अहिंसा तत्त्व-दर्शन

लेखक
मुनि नथमल

प्रबन्ध-सम्पादक
छगनलाल शास्त्री

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

प्रत्यर्पण

मेरी शब्दात्मा में-
जिनकी अर्थात्मा का चैतन्य है,
उन
महाप्राण,
योगनिष्ठ,
तपोधन
आचार्य श्री तुलसी को.......

विनेयाणु—
|
|
|
|
मुनि नथमल

अपनी ओर से

लगभग १६ वर्ष पहले की बात है मैं गोचरी करके आया और प्रथम दर्शन में ही आचार्य श्री ने पूछा क्या तुम लिखोगे? लिख सकोगे? मैंने कहा हां। मेरी स्वीकारोक्ति में आत्म-विश्वास और आचार्य श्री के आशीर्वाद का संकेत था। आचार्य श्री कुछ संदिग्ध थे। उन्हें मेरी लेखनी के बारे में कोई सन्देह नहीं था, संदेह था भाषा के बारे में। उससे पूर्व आचार्य श्री नहीं जानते थे कि मैंने हिन्दी में कुछ लिखा है या मैं लिख सकता हूँ। मैं भी नहीं जताना चाहता था कि मैंने हिन्दी में कुछ लिखा है। उस समय तक मैं अधिकांशतः संस्कृत में ही लिखता रहा। मन में संकोच था कि हिन्दी में लिखूं उसे आचार्य श्री क्या समझेंगे?

आचार्य श्री ने कहा—हीरालाल रसिकदास कापड़िया का पत्र आया है। वे अहिंसा के विषय में एक पुस्तक लिख रहे हैं। उन्होंने आचार्य भिक्षु की व्याख्या के अनुसार एक अहिंसा विषयक निबन्ध मांगा है। हिन्दी में मांगा है। हिन्दी में लिखना है—लिखलोगे? मैंने कहा—हां।

आचार्य भिक्षु को पढ़ने का यह पहला अवसर था। उनको पढ़ने का अर्थ था अहिंसा को पढ़ना। मेरे लिए अहिंसा और आचार्य भिक्षु एकार्थक जैसे बन गए अब हिन्दी में लिखने का द्वार खुल गया। अहिंसा की गहराई में पैठने की भावना बल पकड़ती गई। निमित्त और अवसर मिलते गए। क्रम आगे बढ़ा। 'धर्म और लोकव्यवहार' 'उन्नीसवी सदी का नया आविष्कार' 'वस्तु-दर्शन' 'दयादान' 'अहिंसा और उसके विचारक' 'अहिंसा की सही समझ' आदि पुस्तकें और निबन्ध लिखे गए।

दो दशक भी पूरे नहीं हुए हैं—जन साधारण के लिए तेरापंथ और आचार्य भिक्षु अज्ञेय थे। जो कुछ ज्ञेय था वह भी भ्रमपूर्ण। आचार्य श्री तुलसी इस स्थिति को बदलने में संलग्न थे। वे आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण को युग की भाव भाषा में प्रस्तुत कर रहे थे। आचार्य श्री की वाणी में नए तर्क थे, नवीन पद्धति थी और स्पष्टोक्ति का नया प्रकार था। प्रतिपादन की इस पद्धति ने दूसरे लोगों का

विस्मय में डाल दिया—वे अश्रुत को सुन रहे हों वैसा मान रहे थे। कुछ तेरापंथी भी अपने को सम्भाल नहीं सके। इस स्थिति में यह अपेक्षा हुई कि एक दोहरा उपक्रम किया जाए जो तेरापंथ के अनुयायी नहीं हैं उनके लिए जैनागम सूत्रों के व अन्यान्य विचारकों के माध्यम से आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाए और जो तेरापंथी हैं उनके लिए आचार्य भिक्षु की वाणी ही प्रस्तुत की जाए। इस भित्ति पर 'अहिंसा तत्व दर्शन' के दो खण्ड बन गए। अहिंसा कोरा विचार नहीं है। मूलतः वह आचार है। आचार के साथ उतना न्याय नहीं होता जितना विचार के साथ होता है। विचार से अधिक यदि आचार न हो तो कम-से कम इतना अवश्य हो कि विचार से कम आचार न हो। तीसरा खण्ड आचार पक्ष से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अपने आपमें पूर्ण है। पूर्ण का अर्थ यह नहीं कि अपूर्ण नहीं है। अहिंसा जैसे विषय को शब्दों की पूर्णता कब कैसे प्राप्त हो सकती है? इस ग्रन्थ में ऐतिहासकि दृष्टि से विश्लेषण करना अपेक्षित था पर इसका निर्माण अकल्पित ही हुआ। आचार्य श्री ने एक निबन्ध लिखने को कहा था निबन्ध कुछ बड़ा हो गया। सहज ही कल्पना आगे बढ़ी और एक ग्रन्थ बन गया। छह वर्ष पहले ही यह सम्पन्न हो गया था। दूसरे-दूसरे कार्यों में व्यस्त रहा, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने की इच्छा को अभी भी मैं अपने में संजोए हुए हूँ।

आचार्य श्री की प्रेरणाओं के प्रति मन में जो कृतज्ञता का भाव है, वह शब्दों की पकड़ से परे है।

इसका शब्दकोष मुनि दुलहराज ने तैयार किया है।

अहिंसा का समुद्र महान् है। उसमें मिल यह ग्रन्थ-बिन्दु भी अपने आपको अमित पायेगा।

२,०१७ श्रावण शुक्ला १३
बाल-निकेतन : राजसमंद।
उदयपुर (मेवाड़)

—मुनि नथमल

प्रज्ञापना

अहिंसा जैन दर्शन का प्राणभूत तत्त्व है। उसकी विशद व्याप्ति में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सब व्रत समा जाते हैं। यों कहना अतिरंजन नहीं होगा कि व्रत-व्यवस्था अहिंसा के समीचीनता पूर्ण पर्युपासन के लिए एक वैज्ञानिक विधि-क्रम है।

भगवान् महावीर ने कहा था—"उन पढ़े हुए पलालभूत करोड़ों पदों से क्या बनेगा, यदि उनका अध्येता इतना भी न जाने कि दूसरों को उत्पीड़ित नहीं करना चाहिए। यह पद अहिंसा की सार्वथिक तथा सार्वदिक उपादेयता का उद्घोषण करता है। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा-तत्त्व पर समय-समय पर अनेक आचार्य पाण्डित्यपूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण देते रहे हैं। ताकि प्रकृत जन उसकी सूक्ष्मता में उलझ न जाएं बल्कि अपनी आभ्यन्तरिक गुत्थियों को उस द्वारा सुलझा पाएं।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्यान्य दर्शनों में भी अहिंसा पर गभीर चिन्तन चलता रहा है। उन उन परंपराओं के आचार्यों तथा मनीषियों ने इसे अपनी-अपनी पद्धति में व्याख्यात किया है।

इस प्रकार अहिंसा पर हुए बहुमुखी विचार-मन्थन से सम्बद्ध साहित्य-राशि भारतीय वाङ्मय का एक अपरिहार्य अंग है।

जहाँ अधिक सौक्ष्म्य व्यक्ति को गहराई में पैठने को प्रेरित करता है, वहाँ बहिर्द्रष्टा के लिए वह दुरूह बन जाता है। परिणाम-वैपरीत्य सहज है। बहिर्दर्शन उसे याथार्थ्य से पराङ्मुख बना डालता है। जब अधिकांश ऐसा होने लगता है, तत्त्वदर्शी महापुरुष जन-जन को यथार्थ का दर्शन देते हैं। इतिहास साक्षी है, अनेक बार ऐसा हुआ है!

दो शती पूर्व भी एक ऐसा ही समय था, जब अहिंसा के शुद्ध निरूपण की अपेक्षा थी। आचार्य श्री भिक्षु ने उसे पूरा किया। उन्होंने गाँव-गाँव व घर-घर में वह संदेश पहुँचाया। उन्होंने स्थूल-ग्राह नहीं किया, सूक्ष्म को पकड़ा। वे किनारे पर उतराये नहीं, भीतर गहरे पैठे। उन्होंने जैन दर्शन के अन्तर्दर्शी एवं

स्वोन्मुखी दृष्टिकोण को लिया। आत्मावगाहन व स्वानुभूति की कसौटी पर कसा, परखा। खरा जान लोगों को बताया।

आज अपेक्षा है, जहाँ हिंसा की रौरवी पिशाचिनी मुंह बाये मानवता को निगलना चाहती है, अहिंसा के निरूपण, उस पर चर्चन, विमर्शण और बौद्धिक विश्लेषण के क्रम को आगे बढ़ाया जाए ताकि लोक-श्रद्धा, जो हिंसा में गहरी पैठती जा रही है, अहिंसा पर टिकने को सत्प्रेरित हो। साथ ही साथ आचार्य श्री भिक्षु द्वारा दिये गये अहिंसा विषयक सूक्ष्म तत्त्व-दर्शन से भी लोगों को सम्यक् अवगत कराया जाए जिससे अहिंसा पर बहिर्दर्शी दृष्टिकोण के स्थान पर अन्तर्दर्शी दृष्टि-कोण से लोग विचार करें, उसके याथार्थ्य को परखें।

आचार्य श्री भिक्षु के नवम उत्तराधिकारी, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा लिखित 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' नामक यह पुस्तक अहिंसा पर विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण, समीक्षा एवं तुलना परक प्रकाश डालनेवाली एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्यप्रवर के श्री चरणों में बैठ मुनि श्री ने अहिंसा का जो सूक्ष्म दर्शन पाया, इस पुस्तक द्वारा उसका निचोड़ प्रस्तुत करने का उनका यह एक सफल प्रयास है। गवेषणापूर्ण पद्धति से अहिंसा का विशद् विवेचन करते हुए उसके सैद्धान्तिक, व्यावहारिक आदि सभी पहलुओं की उन्होंने तर्क व युक्तिपूर्ण अवगति दी है।

आदर्श साहित्य संघ की ओर से इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन करते हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

अहिंसा के सत्य स्वरूप को साक्षात् करने में यह पुस्तक पाठकों के लिए सहायक सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता
भाद्र शुक्ला १३, २०१७।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

आभार

'अहिंसा तत्त्व दर्शन' के प्रकाशन में वर्दवान (लाडनूं) निवासी श्री मालचन्दजी भूतोड़िया ने अपने पितामह श्री मोहनलाल भूतोड़िया की पुनीत स्मृति में आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया है, जो समाज के साधन-सम्पन्न महानुभावों के लिए अनुकरणीय है। आदर्श साहित्य संघ की ओर से हम सादर आभार प्रकट करते हैं।

व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

पहला खण्ड

(अहिंसा का स्वरूप निर्णय)

पहला अध्याय

(१-४२)

: दूसरा अध्याय :

(४३-५४)

: तीसरा अध्याय :

(५५-८२)

: चौथा अध्याय :

(८३-११२)

दूसरा खण्ड

(अहिंसा की मीमांसा)

पांचवा अध्याय

(११३-१३८)

छठा अध्याय

(१३९-१६०)

सातवां अध्याय

(१६१-१६०)

आठवां अध्याय

(१९१-२१०)

नौवां अध्याय

(२११-२५०)

तीसरा खण्ड

(अहिंसा का जीवन में उपयोग)

दसवां अध्याय

(२५१-२८०)

ग्यारहवां अध्याय

(२८१-२९४)

पहला खण्ड

अहिंसा का स्वरूप-निर्णय

पहला अध्याय

अहिंसा के स्रोत और विकास की आधार-भूमि

अहिंसा की भावना कब और क्यों उत्पन्न हुई? अहिंसा शब्द का प्रयोग कबसे होने लगा? इनका सही-सही इतिहास जानना लगभग असम्भव है। इनकी कुछ जानकारी साहित्य और कल्पना के आधार पर मिल सकती है।

कर्मयुग के प्रारम्भ में सहज-धर्म—क्षमा, सरलता, कोमलता, निर्लोभता आदि विद्यमान था[1]। कर्मयुग चला, तब प्रवृत्तियां कम थीं। युग के विकास के साथ-साथ प्रवृत्तियां भी विकसित हुईं। प्रवृत्तियों को चलाने वाले जो थे, वे ही भगवान् ऋषभनाथ उनसे निवृत्त हुए। सामाजिक दायित्व संभाला, तब प्रवृत्तियों का विकास किया और जब उस दायित्व से दूर हुए, तब उनसे मुंह मोड़ लिया। फिर अपनी साधना के पथ पर चल पड़े। साधना का प्रारम्भ—"सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि—आज से सर्व सपाप प्रवृत्तियों को त्यागता हूँ"—इस भावना के साथ किया[2]। उन्होंने जो साधना अपनाई, वह अहिंसा की थी। उन्होंने सर्व प्राणातिपात का विरमण किया। यहीं से अहिंसा का स्रोत बहा। उपदेशलब्ध धर्म का प्रवर्तन हुआ। सम्भव है, पहले-पहल अहिंसा के लिए प्राणातिपात-विरति (प्राण-वध का त्याग) शब्द-प्रयोग में आया और अहिंसा उसके बाद। प्राणातिपात की भावना विकसित होते चतुरूप बन गई। (१-२) पर-प्राण-वध जैसे पाप हैं, वैसे स्व-प्राण-वध भी पाप है। (३-४) पर के आत्म-गुण का विनाश करना जैसे पाप है, वैसे अपने आत्म-गुण का विनाश करना भी पाप है। 'प्राणातिप विरमण' के इस विस्तृत अर्थ को संक्षेप में रखने की आवश्यकता हुई

१—तेणं मणुआ पगई उवसंता पगई पयणु कोह—माण—माया—लोहा मिउ-मद्दवसम्पण्णा, अल्लीणा भद्दगा, विणीआ, अप्पिच्छा, असंणिहिसंचया, विडिमंतर-परिवसणा, जहीच्छिअ कामकामिणो

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार सूत्र—१४

२—मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए—णत्थिणं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे।—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ? सूत्र—३९

तब 'अहिंसा' शब्द प्रयोग में आया। इसका सम्बन्ध केवल प्राण-वध से न होकर असत्-प्रवृत्ति मात्र से होता है। कल्पना की दृष्टि से भी यह संगत लगता है। पहले-पहल जब दूसरों को न मारने की भावना उत्पन्न हुई, तब उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'प्राणातिपात विरति' शब्द ही पर्याप्त था। किन्तु अनुभव जैसे आगे बढ़ा, प्राण-वध के बिना भी प्रवृत्तियों में दोष प्रतीत हुआ, तब एक ऐसे शब्द की आवश्यकता हुई, जो केवल प्राण-वध का अभिव्यंजक न होकर सदोष-प्रवृत्ति मात्र (आत्मा की विभाव परिणतिमात्र) का व्यंजक हो। इसी खोज के फलस्वरूप अहिंसा शब्द प्रयोग में आया। इस कल्पना को साहित्य का आधार भी मिल जाता है।

(१) आचारांग सूत्र में तीन महाव्रत—अहिंसा, सत्य और बहिर्धादान का उल्लेख मिलता है[1]।

(२) स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि में चार याम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिर्धादान[2] का उल्लेख मिलता है[3]। चातुर्याम का उल्लेख बौद्ध पिटकों में भी हुआ है[4]। पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है[5]।

१—जामा तिण्णि उदाहिया—आचारांग ७।१।४००

२—"बहिद्धादाणाओ" त्ति बहिद्धा—मैथुनं परिग्रहविशेषः आदानं च परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथवा आदीयतेऽइत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह-बहिस्तात् धर्मोपकरणाद् बहिर्यदिति। इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यत इति। स्थानांगवृत्ति—२६६।

३—(क) स्थानांग २६६

(ख) चाउज्जामो अजो धम्मो, जो इमो पंच सिक्खयो।
देसिओ वद्धमाणेणं पासेण च महामुणी॥—उत्तराध्ययन २३-२३

४—चातुयाम संबर संवुत्तो—दीर्घनिकाय।

५—अहिंससच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं च अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥
उत्तराध्ययन सूत्र—२१-२२।

जैन आगमों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पांच महाव्रतात्मक धर्म का निरूपण किया और शेष बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का[1]।

इस त्रिविध परम्परा से फलित यह हुआ कि धर्म का मौलिक रूप अहिंसा है। सत्य आदि उसका विस्तार है। इसीलिए आचार्यों ने लिखा है—'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा' शेष व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं[2]। काव्य की भाषा में 'अहिंसा' धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाड़े हैं[3]। 'अहिंसा' जल है और सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं[4]। सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

'आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है' इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—असत्य आदि सभी विकार आत्म-परिणति को बिगाड़ने वाले हैं। इसलिए वे सभी हिंसा हैं। असत्य आदि जो दोष बतलाए हैं, वे केवल 'शिष्य बोधाय' हैं। संक्षेप में राग-द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राण-वध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति से प्राण-वध न होने पर भी वह होती है। जो राग-द्वेष की प्रवृत्ति करता है, वह अपनी आत्मा की घात कर ही लेता है, फिर चाहे दूसरे

१—मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति तंजहा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं—स्थानांग सूत्र—२६६

२—एक्कं चिय एक्कं वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइ वायविरमण—सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा—पञ्चसंग्रह द्वार।
अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्ग-मोक्ष प्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥

हारिभद्रीय अष्टक—१६।५

३—अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्—हारिभद्रीय अष्टक १६।५

४—अहिंसा पयसः पालि—भूतान्यन्य व्रतानि यत्···योगशास्त्र प्रकाश—२

जीवों की घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा में परिणत होना भी हिंसा है। इसलिए जहाँ राग-द्वेष की प्रवृत्ति है, वहाँ निरन्तर प्राण-वध होता है [१]।

निश्चय-दृष्टि से आत्मा ही अहिंसा है और वही हिंसा। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है [२]।

जीव-वध आत्म-वध है और जीव-दया आत्म-दया। इसलिए आत्मार्थी पुरुष सब जीवों की हिंसा को त्याग देता है [३]।

१—आत्मपरिणामहिंसन-हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल-मुदाहृतं शिष्यबोधाय॥
यत् खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥
अप्रादुर्भावः खलु, रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव॥
व्युत्थानावस्थायां, रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा, हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥
हिंसायामविरमणं, हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे, प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥
पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय—४२-४८।

२—आया चेव अहिंसा, आया हिंसेत्ति निच्छओ एस।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥
हरिभद्र कृत अष्टक ७ श्लोक ६ वीं वृत्ति

३—जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
ता सव्वजीवहिंसा परिचत्ता अत्तकामेहिं॥
भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक—९३

आत्म-गुण का हनन करने वाला वस्तुतः हिंसक होता है और आत्म-गुण की रक्षा करने वाला अहिंसक[1]।

वीतराग[2] या अवीतराग[3] संयमी जो प्रमत्त दशा में हैं, उसके द्वारा अपरिहार्य प्राणवध हो जाए वह प्राणवध है, किन्तु वास्तव में हिंसा नहीं।

इन तथ्यों से साफ हो जाता है कि प्राण-वध और हिंसा सर्वथा एक नहीं है। इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिए अहिंसा शब्द व्यवहार में आया—ऐसा प्रतीत होता है।

१—आत्मगुणनो हणतो, हिंसक भावे थाय।
आत्मधर्म नो रक्षक, भाव अहिंसा कहाय॥
आत्मगुण रक्षण तेह धर्म, स्वगुण विध्वंसना तेह अधर्म।
देवचन्द्रजी कृत—अध्यात्मगीता।

२—अणगारस्स णं भन्ते! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा, कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा। तस्सणं भन्ते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?

गोयमा! अणगारस्सणं भावियप्पणो। जाव तस्सणं इरिया वहिआ किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ से केणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ, जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए। —भगवती १८-८

३—संवुडस्स णं भन्ते! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स, जाव आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं केवलं पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा, निक्खिवमाणस्स वा तस्सणं भन्ते! किं इरियावहिआ किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?

गोयमा! संवुडस्सणं अणगारस्स जाव तस्सणं इरियावहिया किरिया कज्जइ णो संपराइया। से केणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ—गोयमा! जस्सणं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवन्ति, तस्सणं इरियावहिया किरिया कज्जइ तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ। सेणं अहा सुत्तमेव रीयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ —भगवती ७-७।

अहिंसा शब्द हिंसा का निषेध है। हिंसा सदेह-दशा में होती है और अहिंसा भी उसी में। विदेह-दशा में हिंसा और अहिंसा की कोई कल्पना ही नहीं होती। हिंसा बन्धन या सदेह-दशा का हेतु है और अहिंसा मुक्ति या विदेह-दशा का। मुक्ति होने के बाद अहिंसा आत्मा की शुद्धि रूप रह जाती है, साधना रूप नहीं। फिर उसका कोई कार्य नहीं रहता। इसलिए उसकी कोई कल्पना भी नहीं होती। मुक्ति का धर्म है—हिंसा का निषेध। इसीलिए मोक्ष-धर्म का स्वरूप नकार की भाषा में कहा गया। महात्मा गांधी ने इस पर बड़े सुन्दर ढंग से लिखा है—"मानवों में जीवन-संचार किसी न किसी हिंसा से होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। यह शब्द संहार की संकड़ी में बन्धा हुआ है। दूसरे शब्दों में यह है कि शरीर में जीवन-संचार के लिए हिंसा स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। इसी कारण अहिंसा का पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो [१]।"

सदेह जीवन तीन प्रकार का होता है—हिंसा का, हिंसा के अल्पीकरण का और अहिंसा का। हिंसा के जीवन में हिंसा-अहिंसा का विवेक ही नहीं होता। हिंसा के अल्पीकरण के जीवन में हिंसा को कम से कम करने का प्रयत्न किया जाता है। अहिंसा के जीवन में हिंसा का पूरा त्याग किया जाता है।

अहिंसा की भावना का आधार

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप में संगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकता हुई। दूसरे मनुष्य को न मारने, न सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ में अपने परिवार के मनुष्यों को न मारने की वृत्ति रही होगी फिर क्रमशः अपने पड़ोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्यों को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरों और पक्षियों को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिंसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई

१—सी० एफ० एण्ड्रूज—महात्मा गांधी के विचार (५-१३८)

और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई, इसीलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही। दूसरी ओर उसका विकास हुआ समाज-निरपेक्ष भूमिका पर, आत्म-विकास की भित्ति पर। उसका लक्ष्य था देह-मुक्ति। इसलिए वह प्राणी मात्र को न मारने की मर्यादा से भी आगे बढ़ी। सूक्ष्म विचारणा में अविरति और क्रिया के सिद्धान्त तक पहुंच गई। हिंसा की विरति नहीं करने वाला हिंसा नहीं करने पर भी हिंसक है [1]। अविरत प्राणी को अतीत शरीर की अपेक्षा भी हिंसा की क्रिया लगती है [2]। पूर्ण विरति किए विना प्रत्येक प्राणी का शरीर निरन्तर छह काय का अधिकरण शस्त्र रहता है [3]। यह ऐकान्तिक निवृत्ति का मार्ग है। समाज का आधार देह-दशा है। मोक्ष का स्वरूप है विदेह। देह का धर्म है प्रवृत्ति। निवृत्ति देह से विदेह की ओर जाने का मार्ग है। सामाजिक दृष्टि में प्रवृत्ति की शुद्धि के लिए निवृत्ति भी मान्य है किन्तु है एक सीमा तक। मोक्ष-साधना का ध्येय है आत्यन्तिक निवृत्ति, शरीर से भी निवृत्ति। इसमें भी एक सीमा तक प्रवृत्ति मान्य है, किन्तु वही जो संयममय हो। अहिंसा सम्बन्धी सामाजिक दृष्टिकोण इस विन्दु पर इससे भिन्न पड़ जाता है। आत्मिक दृष्टि में निवृत्ति का प्रभुत्व है, समाज-दृष्टि में प्रवृत्ति का।

भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा के अभ्युदय के लिए प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया और आत्म-हित के लिए निवृत्ति-मार्ग का [4]। उन्होंने असि, मषि और

१—जीवेणं भन्ते ! किं आयाहिकरणी, पराहिकरणी, तदुभयाहिकरणी ? गोयमा ! आयाहिकरणी वि, पराहिकरणी वि, तदुभयाहिकरणी वि, से केणट्ठेणं भन्ते··· गोयमा ! अविरति पडुच्च। —भगवती १६।१

२—प्रज्ञापना पद २२

३—भावशस्त्रमसंयमो दुःप्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति।

—आचारांग वृत्ति १२४।१।१।१

४—पयाहियाए उवदिसइ—कर्माणि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-भेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति ३ वक्षस्कार

कृषि (सुरक्षा, व्यापार, उत्पादन) की व्यवस्था और कला का उपदेश इसलिए किया कि जनता चोरी आदि से बच सके और हिंसा की कमी कर सके [१]। जीवन-निर्वाह के लिए महाहिंसा और महापरिग्रह का मार्ग बढ़ता जाए, यह नरक या प्रचुर कर्म बन्ध का कारण है [२]।

हिंसा और परिग्रह के बिना काम नहीं चलता किन्तु धर्म की मर्यादा को समझने वाले उनका अल्पीकरण करते हैं। इसलिए श्रावक को 'अल्पसावद्य कर्मार्य' कहा गया है [३]। असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प— इन छहों कर्मों को करने वाले अविरत होते हैं, इसलिए उन्हें हिंमाकर्मकारी' कहा कहा गया है [४]।

यही कारण है कि सर्व-विरति मुनि इनका उपदेश नहीं करते। हिंसात्मक कर्तव्य का उपदेश करने वाले मुनियों को कार्य की दृष्टि से गृहस्थों के समान कहा है [५]।

केवल समाज या प्रवृत्ति धर्म को ही मानने वालों की यह दृष्टि ग्राह्य न भी हो सके किन्तु मोक्ष की साधना, जो देह-निवृत्ति का लक्ष्य लिए चलती है, में ऐसी मान्यता सहजतया फलित होती है।

मोक्ष को साध्य मानने वाले व्यक्ति भी गृहस्थ-दशा में हिंसा, परिग्रह,

---

१—कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्…।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीकाकार वक्षस्कार।

२—नेरइयाउयकम्मा सरीर पुच्छा-गोयमा! महारम्भयाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं…। —भगवती ८-९।

३—अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनि-पोषणवृत्तयः कर्मार्याः……। —तत्त्वार्थ भाष्य० (उमास्वाति)

४—षडपि एते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलंक)

५—किच्चोवएसगा—कृत्यं-कर्तव्यं-सावद्यानुष्ठानं, तत्प्रधानाः कृत्याः—गृहस्थाः तेषामुपदेशः—संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्तव्यैर्गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते, गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पचनपचना व्यापारोपेता इत्यर्थः। —सूत्रकृतांग १।१।४।१।

अब्रह्मचर्य-सेवन आदि कर्म करते हैं यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का क्षेत्र-भेद है। निवृत्ति-धर्म को समझ लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात। ज्ञानावरण और श्रद्धा-मोह का विलय होता है, तत्त्व सही रूप में समझ में आ जाता है। आचरण की बात अब भी शेष रहती है। आचरण सम्बन्धी मोह का विलय हुए बिना समझी हुई बात भी क्रियात्मक नहीं बनती। जिनके सर्व-विरति योग्य मोह-विलय नहीं होता, वे निवृत्ति-धर्म को मोक्ष का मार्ग समझते हुए भी उसे अपना नहीं सकते। तात्पर्य कि उसका अंगीकार मोह-विलय की मात्रा के अनुसार ही होता है। भगवान् ऋषभनाथ या कोई भी व्यक्ति हो, भोग्य कर्म सबको भोगने पड़ते हैं। उस समय प्रवृत्ति का द्वार खुला रहता है। मोह प्रबल होता है, तब अविरत-प्रवृत्ति में आसक्ति अधिक होती है; वह कम होता है तब कम। प्रवृत्ति मोक्ष की साधक न हो तो ज्ञानी जन उसे क्यों करें—यह प्रश्न उक्त पंक्तियों से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानी होना एक बात है और विरत होना दूसरी बात। ज्ञान और अविरति में विरोध नहीं है; उनमें स्वरूप-भेद है—वे दो हैं। विरोध है अविरति और विरति में। एक विषय की विरति और अविरति—ये दोनों एक साथ नहीं हो सकती। एक विषय की विरति और एक विषय की अविरति—ये एक साथ होती हैं। इसीलिए गृहस्थ श्रावक विरताविरति[1] या धर्माधर्मी होता है[2]। गृहस्थ की संयममय या विरति पूर्ण क्रियाएं ही मोक्ष की साधक हैं, शेष नहीं। आरम्भ या हिंसा करता हुआ व्यक्ति मुक्त नहीं होता[3]। मुमुक्षु को आखिर मुनि-धर्म स्वीकार करना ही पड़ता है[4]। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जो सुव्रती

१—एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावजीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरआ।

—औपपातिक प्रश्न २०

२—(क) सूत्रकृतांग २।२।३-९।

(ख) भगवती १७-२।

३—से जीवे···आरम्भे वट्टमाणे ·····तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति।

—भगवती ३।३।

४—असतासंवुडस्स अणगारस्स···अंते अंतकिरिया भवति।

—भगवती ३।३।

होते हैं, वे स्वर्ग को पाते हैं [1]। कई भिक्षुओं से गृहस्थ संयम प्रधान होते हैं। मुनि-धर्म को पालन करने वाले भिक्षु सब गृहस्थों से संयम-प्रधान होते हैं [2]।

मोक्ष-साधना के क्षेत्र में गृहस्थाश्रम की अपेक्षा मुनि-धर्म का कितना महत्त्व है, वह इन्द्र और नमि राजर्षि की चर्चा से स्पष्ट है।

इन्द्र मुनि से कहता है—"आप अभी दान दें, श्रमणों और ब्राह्मणों को भोजन कराएं, यज्ञ करें—फिर दीक्षा लेना।"

उत्तर में मुनि कहते हैं—"जो व्यक्ति प्रतिमास लाखों गाएं दान में देता है उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।"

इन्द्र ने फिर कहा—"आप घोर आश्रम (गृहस्थ-जीवन) को छोड़कर दूसरे आश्रम (मुनि-जीवन) में जा रहे हैं; यह ठीक नहीं। आप इसी आश्रम में रहकर धर्म को पुष्ट करने वाली क्रिया करें।"

राजर्षि ने कहा—"गृहस्थ-आश्रम में रहने वाला व्यक्ति तीस-तीस दिन तक की तपस्या करे और पारणे में कुश के अग्रभाग पर टिके उतना खाए, फिर भी वह मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकता [3]।"

१—एवं सिक्खा समावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए।
　मुच्चई छवि पव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥ —उत्तराध्ययन ५।२४।

२—संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
　गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥ —उत्तराध्ययन ५।२०

३—जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समण माहणे।
　दच्चा भुच्चाय जिट्ठाय, तओ गच्छसि खत्तिया।
　जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
　तस्सावि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचणं ॥
　घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसिआसमं।
　इहवपोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥
　मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
　न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

—उत्तराध्ययन ९।३८,४०,४२,४४।

इस प्रकार समझा जा सकता है—समाज और मोक्ष की दृष्टि, साधन और साधना सर्वथा एक नहीं है। समाज-दृष्टि में गृहस्थाश्रम का पूरा महत्त्व है। धर्म का महत्त्व वहीं तक है, जहाँ तक वह गृहस्थ-धर्म की बुराइयों को मिटाए। मोक्ष-दृष्टि में मुनि-जीवन का सर्वोच्च स्थान है। गृहस्थ-जीवन का महत्त्व उसके व्रतों तक ही सीमित है।

जो व्यक्ति इन दोनों के एकीकरण की बात सोचते हैं, वे इस तथ्य को भुला देते हैं कि स्वरूप-भेद में एकता नहीं हो सकती। ये दोनों समानान्तर रेखाएं हैं, जो साथ-साथ चलती हैं पर आपस में मिलती नहीं।

जो लोग मानते हैं—धर्म समाज के अभ्युदय के लिए चला और है उनके लिए अहिंसा मर्यादित धर्म है। मर्यादा का मापदण्ड है—समाज की आवश्यकता।

'धर्म का प्रवर्तन आत्म-शुद्धि के लिए हुआ'—ऐसे विचार वालों के लिए अहिंसा अमर्यादित धर्म है। वे अहिंसा को उपयोगिता या आवश्यकता के बाटों से नहीं तोलते। वे उसे संयम की तुला से तोलते हैं। सचमुच ही अहिंसा समाज के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुई होती तो उसकी मर्यादाएं इतनी सूक्ष्म नहीं बनतीं। समाज-निरपेक्ष बन कर भी वह विकसित नहीं होती।

अहिंसा-धर्म समाज के अभ्युदय के लिए ही है तो उसे धर्म की भूमिका पर क्यों रखा जाए? समाज के लिए वह अधिक उपयोगी तभी बन सकता है, जबकि उसका मूल्यांकन समाज की दृष्टि से किया जाए।

अहिंसा का विचार समाज की भूमिका से ऊपर शरीर को एक बाजू रख कर केवल आत्म-स्वरूप की भित्ति पर हुआ है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका लक्ष्य आत्म-शुद्धि या देह-मुक्ति ही है।

अहिंसा-धर्म की भित्ति स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के डर की कल्पना ही है तो उसे तोड़ फेंक देना चाहिए। वैज्ञानिक युग के व्यक्ति की दृष्टि में अर्थ-वाद की अपेक्षा यथार्थता का मूल्य अधिक हो सकता है।

अहिंसा-धर्म आत्म-शोधन के लिए है अर्थात् देह-मुक्ति के लिए है तो उसे अपनी ही दिशा में चलना चाहिए।

सामाजिक धर्म नितान्त ऐहिक और पौने सोलह आने भौतिक होता है।

उसमें स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि पारलौकिक स्थितियों का विचार नहीं होता। नैतिकता का विचार होता है, वह भी सामाजिक स्तर पर। अनात्मवादी कितने ओछे स्तर पर धर्म का विचार करते हैं, उसका एक नमूना देखिए—"आदमी को अपने ऊपर विश्वास करना सीखना चाहिए। धर्म-ग्रन्थों के पाठ उसे कड़कड़ाती सर्दी से न बचा सकेंगे। घर, अग्नि और वस्त्र ही उसकी रक्षा कर सकेंगे। अकाल से बचने के लिए लाखों धर्मोपदेशों की अपेक्षा एक हल अधिक उपयोगी है। संसार के आरम्भ से जितनी प्रार्थनाएं की गई हैं, वे सब उतने रोगों को दूर न कर सकेंगी जितने रोग किसी एक सामान्य पेटेन्ट दवा से दूर हो सकते हैं [1]।"

जहाँ पौद्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए धर्म की कल्पना हो, वहाँ वह व्यर्थ है। यह सच है—रोटी, कपड़ा आदि सुख सुविधाएं प्राप्त करने में धर्म सहायक नहीं बनता। धर्म के बारे में दूसरी कल्पना प्रवर्तक-धर्म की है। वह पारलौकिक भी है और आध्यात्मिक भी। किन्तु वह मोक्ष को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार धर्म का ऐहिक फल है अभ्युदय और पारलौकिक फल है स्वर्ग-प्राप्ति।

तीसरी परम्परा निवर्तक-धर्म की है। इसका साध्य है मोक्ष। इसके अनुसार धर्म सिर्फ आत्म-शुद्धि के लिए ही किया जाना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पदाओं, वैभव और स्वर्ग के लिए धर्म नहीं करना चाहिए[2]।

१—स्वतन्त्र विचार—कर्नल इंगरसोल-पृष्ठ ४१ (अनुवादक—भदन्त आनन्द कौसल्यायन)

२—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा···नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा—

—दशवैकालिक—९।४।

इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—"आप मिले हुये भोगों को छोड़कर आगामी भोगों के लिए तप तप रहे हैं—यह आश्चर्य की बात है।"

राजर्षि बोले—"काम भोग शल्य हैं, विष हैं। उनकी कामना करने वाले दुर्गति जाते हैं। मैं आत्म-शुद्धि के लिए तप तप रहा हूँ; पारलौकिक भोगों के लिए नहीं [१]।"

निवर्तक—धर्म पूर्णतया आध्यात्मिक है। पौद्गलिक सुख-सुविधाओं की दृष्टि से वह न इह लौकिक है और न पारलौकिक। आत्म-शुद्धि की दृष्टि से वह इह लौकिक भी है और पारलौकिक भी [२]।

धर्म और पुण्य

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म का आधार कर्मवाद है। कर्मवादियों की दो शाखाएं रही हैं—(१) त्रिवर्गवादी और (२) पुरुषार्थ-चतुष्टयवादी। धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थों को स्वीकार करने वाली शाखा में मोक्ष का स्थान नहीं है। इसी का नाम प्रवर्तक धर्म है। इसका चरम साध्य स्वर्ग है। इसके अनुसार धर्म, शुभकर्म या पुण्य का फल स्वर्ग है। अधर्म, अशुभ कर्म या पाप का फल नरक है। इन्हीं के द्वारा जन्म-मरण की परम्परा चलती है। उसका कभी भी निरोध नहीं हो सकता। इस परम्परा में धर्म या पुण्य हेय नहीं हैं। इसमें धर्म का आधार शिष्ट-समाज सम्मत आचार है। इसके धार्मिक विधान स्वर्ग लक्षी हैं।

दूसरी परम्परा निवर्तक-धर्म की है। इसका साध्य मोक्ष है। इसमें धर्म और पुण्य एक नहीं हैं। धर्म आत्मा की शुद्ध परिणति है और पुण्य कर्म-

---

३—अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थि वा।
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि॥
सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं॥

—उत्तराध्ययन—९।५१,५३

४—अप्पादन्तो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थए।

—उत्तराध्ययन—१।१५

बन्धन। पुण्य बन्धन है इसलिए हेय है [१]। पुण्य का फल स्वर्ग आदि शुभ भोग है किन्तु वह मोक्ष का बाधक है [२]। यह मोक्षार्थी के लिए वांछनीय नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—"पुण्य संसार-भ्रमण का हेतु है। जो इसकी इच्छा करते हैं, वे परमार्थ को नहीं समझते, मोक्ष-मार्ग को नहीं जानते [३]।" फल की दृष्टि से पुण्य और पाप में अन्तर है। पुण्य का फल शुभ-भोग है और पाप का अशुभ-भोग। किन्तु मोक्ष के साधन ये दोनों नहीं है, इसलिए पुण्य के फल भी तत्त्व-दृष्ट्या दुःख ही हैं [४]। चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति आदि-आदि पुण्य के फल निश्चय दृष्टि में दुःख ही हैं [५]। इसीलिए आचार्य योगीन्दु कहते हैं—"हमारे पुण्य का बन्ध न हो क्योंकि पुण्य से धन मिलता है, धन से मद होता है, मद से मति-मोह और मति-मोह से पाप [६]।"

१—दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥
—उत्तराध्ययन २१।२४।

२—शुद्धायोगारे यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभ कर्माणि।
काञ्चन निगडंस्तान्यपि जानीयात हतनिर्वृति शर्माणि॥
—शान्त सुधारस ७।७।

३—परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति।
संसारगमणहेउं, विमोक्खहेउं अयाणंता॥—समयसार १६१

४—पुण्ण फलं दुक्खं चिअ, कम्मोदयओ फलं व पावस्स।
णणु पाव फले वि समं, पच्चक्ख विरोहिया चेव॥
—विशेषावश्यक भाष्य २००४

५—जत्तोच्चिअ पच्चक्खं, सोम्म! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं।
तप्पडियार विभत्तं, तो पुण्णफलंति दुखंसि।—विशेषावश्यक भाष्य २००५,
चक्रवर्तिपदलाभादिकं पुण्यफलं निश्चयतो दुःखमेव।
कर्मोदयजन्यत्वात्, नरकत्वादिपापफलवद्॥
—विशेषावश्यक भाष्य २००५

६—पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं, ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥—परमात्मप्रकाश २-६०।

यह क्रम उन्हीं के होता है, जो पुण्य की इच्छा से धर्माचरण करते हैं। जो आत्म-शुद्धि के लिए धर्माचरण करते हैं, उनके अवांछित पुण्य का बंध हो जाता है[१]। किन्तु वह व्यक्ति को दिग् मूढ़ नहीं बनाता[२] किन्तु फिर भी वह साधन जन्म मृत्यु परम्परा का ही है, मोक्ष का नहीं[३]। जीव संसार भ्रमण करता है उसका कारण शुभ-अशुभ कर्म ही है[४]। मोक्ष जन्म-मृत्यु की परम्परा, शुभ-अशुभ कर्म नष्ट होने से होता है। कर्म से कर्म का नाश नहीं होता, कर्म का नाश अकर्म से होता है[५]। मोक्ष तब हो, जब नये कर्म-पुण्य और पाप दोनों न लगे[६]। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार धर्म और पुण्य दोनों एक हैं[७]।

१—(क) पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुम्बिनापलालवत् अनीहितं पुण्यमास्रवति।—परमात्मप्रकाश वृत्ति २।६१

(ख) आस्रवति यत्तु पुण्यं; शुभोपयोगोऽयमपराधः।-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२०

२—इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-रूपनिदानबंधपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुनः सम्यक्त्वादि गुणसहितम्।

—परमात्मप्रकाश पृष्ठ २०१-२०२।

३—असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः स विपक्ष कृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः। —पुरुषार्थ सिद्ध् युपाय २११

४—एव भव संसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।

जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम! मा पमायए॥-उत्तराध्ययन १०-१५।

५—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।

अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥ — सूत्र कृतांग १-१२-१५

६—तुट्टन्ति पाव कम्माणि, णवं कम्ममकुव्वओ॥६॥

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ॥७॥

विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई।

ण मिज्जई महावीरे, जस्स अत्थि पुरे कडं॥८॥—सूत्र कृतांग १-१५।

७—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते। अर्थशब्देन तु पुण्य फलभूतार्थो राज्यादि-विभूतिविशेषः काम शब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूतः स्त्रीवस्त्र-गंधमाल्यादिसम्भोगः।—परमात्मप्रकाश २।३ पृ० १२८-१२९।

निवर्तक-धर्म में ये दोनों दो हो जाते हैं। पुण्य का अर्थ है शुभ कर्म का बन्धन और धर्म का अर्थ है बंधन-मुक्ति का साधन। ये दोनो परस्पर विरोधी हैं। बन्धन के साधन से मुक्ति नहीं हो सकती और मुक्ति के साधन से बन्धन नहीं हो सकता।

धर्म की शुभ प्रवृत्यात्मक स्थिति में होने वाला बन्धन पुण्य का होता है। इस साहचर्य के उपचार से कह दिया जाता है कि धर्म से पुण्य होता है किन्तु वास्तव में धर्म मुक्ति का ही हेतु है, उससे बन्धन नहीं होता [1]। पुण्य बन्धन है, इसलिए हेय है। नव पदार्थों में जीव और अजीव ज्ञेय, पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव हेय तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष तीन उपादेय हैं [2]। निश्चय-दृष्टि में पुण्य और पाप दोनों हेय हैं, फिर भी मोह से प्रभावित व्यक्ति पुण्य को उपादेय मानते हैं और पाप को हेय [3]। परम्परा से पुण्य मोक्ष का कारण बन सकता है फिर भी वह न स्वयं उपादेय है और न उससे कुछ उपादेय कार्य सधता है [4]। पाप भी मोक्ष के परम्पर कारण बन सकते हैं। इसीलिए योगीन्दु

१—रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य आस्रवति यत्तु पुण्यं, शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति धृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोपि रूढिमितः ॥२२१॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२—(क) हेया बन्धासव पुण्णपावा, जीवाजीवाय हुन्ति विण्णेया।
संवर निज्जर मुक्खो, तिन्निवि ए ए उवाएया।

(ख) पुण्य पाप आस्रव परिहरिए, हेय पदार्थ मानो रे।

—नमिनाथस्तुति।

३—भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्य-पाप द्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात् पुण्यमुपादेयं करोति, पापं हेयं करोतीति भावार्थः। —परमात्मप्रकाश वृत्ति २।५३।

४—सम्यग्दृष्टेर्यद्यपि संसारस्थितिच्छेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थंकरनामकर्म प्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्ट पुण्यमास्रवति तथाप्यसौ तद् उपादेयं न करोति। —परमात्मप्रकाश वृत्ति २।५४।

कहते हैं—"जिन कष्टों के कारण जीव में मुक्ति की भावना पैदा हो, वे कष्ट उन सुखों की अपेक्षा अच्छे हैं, जो जीव को विषय में फंसाते हैं[१]।" आत्म-दर्शन की जिज्ञासा को पुण्य और पाप दोनों पूर्ण नहीं कर सकते। इस परमार्थ दृष्टि से वे दोनों समान हैं[२]।

और क्या पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है[३]। पुण्य की इच्छा करने वाला वास्तव में काम-भोग की इच्छा करता है[४]। इसलिए पुण्य की इच्छा रखते हुए धर्माचरण करने का निषेध किया है।[५]

निवर्तक-धर्म का स्वरूप

राग-परिणति हिंसा है, द्वेष-परिणति हिंसा है, वीतराग-परिणति अहिंसा। हिंसा अधर्म है, अहिंसा धर्म। राग-द्वेष असंयम है, वीतराग-भाव संयम। असंयम अधर्म है, संयम धर्म। धर्म प्रवृत्ति-रूप भी होता है और निवृत्ति-रूप भी। केवल प्रवृत्ति ही हिंसा नहीं, निवृत्ति भी हिंसा होती है। केवल निवृत्ति ही अहिंसा नहीं, प्रवृत्ति भी अहिंसा होती है। आत्यन्तिक निवृत्ति शरीरमुक्त और कर्म-मुक्त दशा में होती है। इससे पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष

१—वरं जिय पावइं सुन्दरइं, णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं दुक्खइं जणिवि, लहु सिवमइं जाइं कुणंति ॥ ५।५६ ॥
मं पुणु पुण्णइं, मल्लाइं णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं रज्जइं देवि, लहु दुक्खइं जाइं जणंति ॥ ५७ ॥

२—यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाऽशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्ध निश्चयनयेन पुण्यपापरहित शुद्धात्मन : सकाशाद् विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवतः।
—परमात्मप्रकाश वृत्ति० १।१९६।

३—पुण्य तणी वांछा कियां, लागै छै एकान्तिक पाप।
—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय—पुण्य पदार्थ गाथा ५२

४—दशवैकालिक ९।४।

५—जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछ्या काम ने भोग···।
—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय गाथा ५३

होती हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति होती है, दूसरे से निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष में प्रवृत्ति होती है, वीतराग-भाव की निवृत्ति हो जाती है। वीतराग-भाव में प्रवृत्ति होती है, राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति और वीतराग-भाव की निवृत्ति—दोनों अधर्म हैं—असंयम है। वीतराग-भाव की प्रवृत्ति और राग-द्वेष की निवृत्ति; ये दोनों धर्म हैं, संयम है।

आत्म-लक्षी प्रवृत्ति विधायक अहिंसा है। संसारलक्षी या पर पदार्थलक्षी प्रवृत्ति की विरति निषेधात्मक अहिंसा है [1]। धर्म का आधार आत्मा और कर्म है। आत्मा चैतन्य-स्वरूप है और कर्म अचेतन-पौद्गलिक है। इन दोनों का संयोग बन्धन है और वियोग मुक्ति। बन्धन के कारण हैं—राग और द्वेष। निवृत्त आत्मा कर्मों को नहीं बान्धती। प्रवृत्त-आत्मा के वे बन्धते हैं। आत्मा की प्रवृत्ति राग-द्वेष-प्रेरित होती है, तब अशुभ कर्म बन्धते हैं। उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेष-अप्रेरित होती है, तब निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का बन्ध होता है [2]। ज्यों-ज्यों संवर (निवृत्ति) बढ़ता है, त्यों-त्यों कर्म-बन्ध शिथिल होता जाता है। वह (सम्वर) जब समग्र हो जाता है, तब कर्म-बन्ध सर्वथा रुक जाता है; पहले के कर्म बन्धन टूट जाते हैं और आत्मा मुक्त बन जाती है [3]।

१—एयाओ पंच समिइओ, चरणस्स पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥
—उत्तराध्ययन २४।२६

२—शुभ-प्रवृत्ति मोह-कर्म का क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव होती है, इसलिए प्रधानतया इससे कर्मों की निर्जरा-विलय होता है। और गौण रूप में इसके सहचारी नाम कर्म के उदय से पुण्य का बन्ध होता है।

३—(क) पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तणे,
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वा वि ण कुव्वति। —सूत्र कृतांग १-१५-२२

(ख) ण कुव्वति महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेच्चाण जं मयं॥ —सूत्रकृतांग १।१५।२३

(ग) जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताणं तं तिन्ना……। —सूत्र कृतांग १-१५-२४

प्रवर्तक-धर्म में स्वर्ग का जो महत्त्व है, वह निवर्तक-धर्म में नहीं। उसमें मुक्ति का महत्त्व है। स्वर्ग भी संसार-भ्रमण का अंग है। उसे पा लेने पर भी जन्म-मृत्यु की परम्परा समाप्त नहीं होती[1]। उसकी समाप्ति असंयमी जीवन और प्राणधारणात्मक जीवन के प्रति मोह-त्याग करने से होती है[2]। संक्षेप में निवर्तक-धर्म का स्वरूप और लक्ष्य यों है :—

१—आत्म-स्वभाव में परिणति-धर्म।

२—आत्म-स्वभाव में परिणत होने का साधन-धर्म।

३—वही साधन धर्म है जो साधकतम हो, अनन्तर हो।

४—धर्म का लक्ष्य-मुक्ति (विदेह-दशा)।

५—आत्मा और देह का संयोग-प्रवृत्ति।

६—शरीरोन्मुखी या असंयमोन्मुखी प्रवृत्ति—बन्ध-हेतु।

७—आत्मोन्मुखी या संयमोन्मुखी प्रवृत्ति-मोक्ष-हेतु।

८—आत्मा और देह का वियोग—निवृत्ति।

प्रवर्तक-धर्म की तुलना में

निवर्तक-धर्म का फलित रूप अध्यात्मवाद है। उसके फलाफल की एक मात्र कसौटी अहिंसा और हिंसा का विचार है। प्रवर्तक-धर्म का फलित रूप है—मानवतावाद। उसकी फलाफल निर्णायक दृष्टि अहिंसा और हिंसा की अपेक्षा मानव-सेवा पर अधिक निर्भर है।

निवर्तक-धर्म प्राणीमात्र समभावी है, इसलिए वह सब स्थितियों में मानव को सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। प्रवर्तक धर्म में मानव के सामने और सब गौण

१—उच्चावचाणि गच्छन्ता, गब्भमेसंति णंतसो।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाहजिणोत्तमे ॥—सूत्रकृतांग १-१-२७।

२—जीवितं पिट्ठओ किच्चा अन्तं पावन्ति कम्मुणा।

कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥

'जीवितम्'—असंयमजीवितं पृष्ठतः कृत्वा-अनादृत्य प्राणधारण—लक्षणं वा जीवितमनादृत्य सदनुष्ठानपरायणाः कर्मणां-ज्ञानावरणादीनां अन्तः पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति, अथवा कर्मणा-सदनुष्ठानेन जीवितनिरपेक्षाः संसारोदन्वतोऽतं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं मोक्षाख्यमाप्नुवन्ति।—सूत्र कृतांग १-१५-१० वृत्ति

होते हैं। दोनों का उद्गम एक नहीं है। इनमें स्वरूप, लक्ष्य और साधना का मौलिक भेद है।

अहिंसा का सामुदायिक प्रयोग

भगवान् ऋषभनाथ राज्य छोड़ मुनि बने, अहिंसा महाव्रत अंगीकार कर जीवन-यापन करने लगे। अपनी आत्मा को साधा। साधना पूरी हुई, कैवल्य-लाभ हुआ। धर्म का उपदेश दिया। अहिंसा को पूर्ण रूप से स्वीकार करने वालों के दो संघ बन गए—साधु और साध्वी। उसे यथाशक्ति स्वीकार करने वालों के भी दो संघ बने—श्रावक और श्राविका। इतने प्राचीन काल में अहिंसा के आचरण के लिए संघ की स्थापना का यह पहला वर्णन मिलता है[1]। किन्तु यह प्रागैतिहासिक घटना है। इतिहास के आलोक में भगवान् पार्श्वनाथ को ही यह श्रेय मिलता है। भगवान् नेमिनाथ भी इतिहास के छोर के समीपवर्ती हैं। ये कृष्ण के चचेरे भाई थे। ये अपने विवाह के निमित्त होने वाली जीव जन्तुओं की हिंसा को अपने लिए अनिष्ट मान विवाह को ठुकरा देते हैं और मुनि बन जाते हैं[2]। केवल-ज्ञान पाकर फिर अहिंसा की देशना देते हैं और संघ की स्थापना करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७) के अनुसार घोर आंगिरस ऋषि कृष्ण के अध्यात्मिक गुरु थे। उन्होंने कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। उस यज्ञ की दक्षिणा है—तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्य वचन। इनके आधार पर तथा विशेषरूप से आत्म-यज्ञ, जो अहिंसा का दूसरा नाम है; के आधार पर यह कल्पना होती है कि घोर आंगिरस भगवान् नेमिनाथ का ही नाम होगा। घोर शब्द भी जैन मुनियों के आचार और तपस्या का प्रतिरूपक है[3]।

भगवान् नेमिनाथ के समय में अहिंसा धर्म का प्रचार बहुल मात्रा में हुआ। श्री कृष्ण सूक्ष्म जीव और वनस्पति जीवों की हिंसा के विचार से चातुर्मास में

१—उसभस्सणं अरहओ···समणोवासिआ संपया होत्था···।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार सूत्र ४३

२—जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।

न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ॥—उत्तराध्ययन २२।१९

३—घोरतवे, घोरे, घोरगुणे, घोर तवस्सी, घोर बंभचेरवासी—भगवती० १।१

राज्य-सभा का आयोजन भी नहीं करते थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं। उनका समय भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व है। अध्यापक धर्मानन्द कौशम्बी भगवान् पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म और संघ के बारे में लिखते हैं—

पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह; इन चार बातों के त्याग करने का वह उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाएं सुनाई; उनमें 'हत्या मत करो' इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहाँ खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहिले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह; इन तीनों नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि मुनियों के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहिले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के भी संघ थे। तपस्या का एक अंग समझकर ही वे अहिंसा-धर्म का पालन करते थे, पर समाज में उसका उपदेश

नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे[1]।

भगवान् पार्श्वनाथ का संघ भगवान् महावीर की संघ-स्थापना के बाद तक चला और क्रमशः वह उसी में सम्मिलित हो गया[2]।

भगवान् महावीर ने स्व-प्रवर्तित संघ चतुष्टय के लिए धर्म की मर्यादाएं बताईं और उसे दो भागों में बांटा। वह इस प्रकार है :—

धर्म के दो रूप हैं—

१—अणगार-धर्म (मुनि-धर्म)

२—आगार-धर्म (गृहस्थ-धर्म)

अणगार-धर्म :—

१—सर्व-प्राणातिपात-विरमण।

२—सर्व-मृषावाद-विरमण।

३—सर्व-अदत्ता दान-विरमण।

४—सर्व-मैथुन-विरमण।

५—सर्व परिग्रह-विरमण।

६—सर्व-रात्रिभोजन-विरमण।

यह अणगार सामायिक धर्म है

आगार-धर्म

पांच अणुव्रत—

१—स्थूल-प्राणातिपात-विरमण।

२—स्थूल-मृषावाद-विरमण।

१—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ४१—स्वर्गीय धर्मानन्द कौशाम्बी।

२—भगवती १।९, २।५,५।९,९।३२, सूत्रकृतांग २।७, उत्तराध्ययन २३।

३—तमेव धम्मं दुविहं आइक्खंति—तं जहा आगारधम्मं च अणगारधम्मं च··· सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मूसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गाहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं···। औपपातिक समवसरण।

—धर्म देशना अधिकार

३—स्थूल-अदत्ता दान-विरमण।

४—स्वदार-संतोष (अब्रह्मचर्य-नियमन)

५—इच्छा-परिमाण (परिग्रह-मर्यादा)

तीन गुण व्रत—

१—अनर्थ-दण्ड-विरमण।

२—दिग्-व्रत—मर्यादित दिशा से आगे जाकर हिंसादि करने की विरति।

३—उपभोग-परिभोग-परिमाण।

चार शिक्षा व्रत—

१—सामायिक—एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति की विरति—आत्म-उपासना।

२—देसावकासिक—हिंसा आदि की अमुक समय तक विशिष्ट विरति।

३—पौषधोपवास—एक दिन रात तक सावद्य प्रवृत्ति की विरति।

४—अतिथि संविभाग—संयमी को निर्दोष भिक्षा-दान।

यह आगार सामायिक धर्म है [1]।

महाव्रतों में सर्व हिंसा की विरति है,[2] इसलिए उनमें अहिंसा का व्यापक रूप हो, इसमें विशेष बात नहीं। गृहस्थ के व्रतों में हिंसा की सर्वथा विरति नहीं है और यह हो भी नहीं सकती[3]। फिर भी उनमें अहिंसा का जीवन-

---

१—आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ तंजहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदार संतोसे, इच्छापरिमाणं······अणत्थदण्ड वेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोगपरिभोगपरिमाणं, सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहिसंविभागो।

—औपपातिक समवसरण—धर्म-देशना अधिकार।

२—सव्वाओ आरम्भ समारम्भाओ पडिविरया—

—औपपातिक प्रश्न २०

३—एगच्चाओ आरम्भ समारम्भाओ पडिविरया जावजीवाए।

—औपपातिक प्रश्न २१।

व्यापी प्रयोग दिखाया गया है। खान-पान, रहन-सहन, भोग-उपभोग आदि प्रत्येक प्रवृत्ति में हिंसा को नियंत्रित करने की दिशा दी गई है।

आगार सामायिक धर्म को पालने वाले गृहस्थ का जीवन अल्प-हिंसा और अल्प-परिग्रह वाला रह जाता है। गृहस्थ-जीवन सर्वथा अहिंसा और अपरिग्रह वाला तो नहीं हो सकता। शेष विकल्प दो रहते हैं—

१—महाहिंसा और महा परिग्रह वाला जीवन। अथवा;

२—अल्प-हिंसा और अल्प परिग्रह वाला जीवन।

महा-हिंसा और महा परिग्रहात्मक जीवन वाला व्यक्ति धर्म को नहीं पा सकता[1]। इसलिए वैसा जीवन धर्म के लिए अयोग्य है। गृहस्थ का वही जीवन श्रेष्ठ है जिसमें हिंसा और परिग्रह का अल्पीकरण हो। इस भावना को दो प्रकार से रखा जाता है—

पहला प्रकार—कम से कम हिंसा ही सर्वोच्च जीवन है[2]।

१—दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलि पन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव। दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलं मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वेज्जा तंजहा आरम्भे चेव परिग्गहे चेव। एवं णो केवलं बंभचेरं वा समावसेज्जा णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा णो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा णो केवल माभिणीबोहियणाणं उप्पाडेज्जा एवं पदं सुअणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं केवलणाणं···।

—सूत्रकृतांग २।१-१७।

२—(क) एक समय मैं फ्रैञ्च लेखक पाल रिशार के साथ उसका स्कर्ज ऑफ क्राइस्ट' पढ़ रहा था। उसमें उसने बाइबल के अनेक वाक्य और कुछ घटनाएं लेकर उन अनेक शब्दों और अर्थ की क्रीड़ा करके अपना तत्त्व-ज्ञान मोहक ढङ्ग से रखा है। यह लेखक विद्वान् तथा चतुर है, इसलिए वह हर एक बात में चमत्कृति ला सकता है। पढ़ते-पढ़ते एक ऐसा वाक्य आया कि 'Living is killing'—'जीने का मतलब है—मारना'। मैंने तुरन्त ही उसे कहा--This is half the truth, because it is a mere statement of a universal fact. The fact of life is not to give you the

दूसरा प्रकार—हिंसा की अधिक से अधिक विरति ही श्रेष्ठ जीवन है अथवा हिंसा की अधिक से अधिक कमी ही श्रेष्ठ जीवन है। दोनों भावनाएं समान हैं। भेद है—शब्द-रचना का। हिंसा कम से कम हो—इसमें हिंसा की कमी की भावना होते हुए भी शब्द-रचना हिंसा के अनुमोदन की है। अनिवार्य हिंसा को जीवन की अशक्यता मानना वस्तुस्थिति है किन्तु अहिंसा के अनुरूप शब्द-रचना वही हो सकती है, जिसमें उसका समर्थन न हो।

हिंसा की जो कमी है, वह जीवन की श्रेष्ठता है। हिंसा थोड़ी मात्रा में भी जो होती है, वह जीवन की श्रेष्ठता नहीं है। तात्पर्य यह है कि हिंसा का अल्पीकरण श्रेष्ठ है, अल्प-हिंसा श्रेष्ठ नहीं। वह जीवन की अशक्यता है किन्तु उसका धर्म नहीं।

भगवान् महावीर ने व्रतों को व्यापक बना हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की दिशा दी, फिर भी समाज अहिंसक यानी अहिंसा प्रधान नहीं बना।

---

universal law of life.you must there for here said Killing the bast ls living the best यह तो अर्द्ध सत्य हुआ क्योंकि एक सार्वत्रिक सिद्धान्त का यह केवल एक विधान है। जीवन के सिद्धान्त मात्र से जीवन का सार्वत्रिक धर्म निकाला नहीं जा सकता। इसलिए आपको यहाँ इतना बढ़ा देना चाहिए कि कम से कम मारना ही उत्तम से उत्तम जीना है। पाल महाशय ने यह सुधार तुरन्त स्वीकार कर लिया और उसका फ्रेंच करके अपनी पुस्तक में लिख लिया।

...जीना यानी मारना, यह प्राकृतिक नियम है सही; लेकिन वह मानव-जीवन का धर्म नहीं हो सकता। जीवन-धर्म कहता है कि 'कम से कम मारना' यह उत्तम से उत्तम प्रकार से जीने के बराबर है। न मारने की ओर, सबको बचाने की ओर, सबको अभयदान देने की ओर हृदय को उत्कटता से मोड़ना जीवन का रहस्य है।

—जैनभारती अंक ४४ पृष्ठ ८६६

(ख) श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल—बनारस, पत्रिका नं०/५

—श्री काका कालेलकर।

उनके संघ में वे ही व्यक्ति सम्मिलित हुए, जो मोक्षार्थी थे। इसलिए वह सामुदायिक अहिंसा का प्रयोग आत्म-साधना के स्तर पर ही विकसित हुआ किन्तु उसका असर जीवन की सब दिशाओं में और सब पर हुआ। निवृत्ति-धर्म भी उपयुक्त मात्रा में समाज-मान्य बन गया। इस तथ्य को सामने रख कर ही हम भगवान् महावीर के अहिंसा-धर्म का मर्म समझ सकते हैं।

अहिंसा और दया

अहिंसा और दया दोनों एक तत्त्व हैं। दया में हिंसा या हिंसा में दया कभी नहीं हो सकती। यदि हम इनको पृथक् करना चाहें तो निवृत्यात्मक अहिंसा को अहिंसा एवं सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा को दया कह सकते हैं। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा के ६० पर्यायवाची नाम बतलाए हैं। उनमें ११ वां नाम 'दया' है। टीकाकार मलयगिरि ने उसका अर्थ—'दया-देहि-रक्षा'-देहधारी जीवों की रक्षा करना किया है। यह उचित भी है क्योंकि अहिंसा (प्राणातिपात-विरमण) में जीव-रक्षा अपने आप होती है। मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि दुनियां में जो जीव मर रहे हैं या मारे जा रहे हैं, उनको वे येन-केन प्रकारेण बचाते हैं। इसका सही अर्थ यही है कि अपनी असत्-प्रवृत्ति से प्राणीमात्र को न कष्ट देते हैं और न मारते हैं। अहिंसा या दया की पूर्णता अपनी असत्-प्रवृत्ति का संयम करने से ही होती है या हो सकती है। कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति पशु-वध करने की तैयारी में हैं, इतने में संयोगवश वहाँ मुनि चले गए। मुनि ने उनके आत्म-कल्याण की भावना से उन्हें प्रतिबोध दिया। उनमें से एक ने हिंसा छोड़ दी और दूसरे ने मुनि का उपदेश नहीं माना। एक व्यक्ति ने हिंसा छोड़ी, उससे मुनि की दया पूर्ण नहीं बनी और दूसरे ने हिंसा नहीं छोड़ी, उससे उनकी दया अपूर्ण नहीं बनी। यदि यों अपूर्ण बन जाए, तब फिर कोई भी व्यक्ति पूर्ण दयालु बन ही नहीं सकता। पूर्ण दयालु हुए बिना आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकती, इसलिए यह मानना पड़ता है कि दया की पूर्णता और अपूर्णता अपनी प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है और इससे यह भी फलित होता है कि जीव-रक्षा या दया का सम्बन्ध अपनी सत्प्रवृत्ति से ही है। जो व्यक्ति अपनी बुरी प्रवृत्तियों का संयम करता है, प्राणी मात्र को अभय-दान देता है, वही जीव-रक्षक है और वही दयालु है।

संत तुलसीदासजी ने भी आत्म-दया की बड़े सीधे-सादे शब्दों में व्याख्या की है तथा नहीं मारने को दया बताकर अहिंसा और दया की एकता बताई है—

"तुलसी दया न पार की, दया आपकी होय।
तू किण ने मारे नहीं, तो तनै न मारै कोय।"

आचार्य भिक्षु ने दया का अर्थ बतलाते हुए यही लिखा है—

"जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुण खान।"

शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ये दो हैं। जैसे—हिंसा न करना—अहिंसा और रक्षा करना—दया। तात्पर्यार्थ में दोनों एक हैं। अहिंसा निषेध प्रधान है। जैसे—हिंसा मत करो—असत्-प्रवृत्ति का आचरण मत करो। दया विधि मुख है, जैसे—पालन करो, रक्षा करो। हिंसा नहीं होगी, वहाँ जीव-रक्षा अपने आप हो जाएगी और जीव-रक्षा में हिंसा वर्जनी ही होगी। वही पहली बात है कि दयाशून्य अहिंसा और अहिंसाशून्य दया कभी नहीं हो सकती। महात्मा गांधी ने भी अहिंसा और दया का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है—

"जहाँ दया नहीं; वहाँ अहिंसा नहीं।" अतः यों कह सकते हैं कि जिसमें जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है [1]।

अहिंसा और दया का क्षेत्र-भेद से भेदाभेद

हिंसा का क्षेत्र व्यापक है। असत्य आदि उसके विभिन्न पहलू हैं। असत्य बोलना हिंसा है, चोरी हिंसा है, मैथुन हिंसा है, परिग्रह हिंसा है। इन सबमें अहिंसा भी नहीं, दया भी नहीं। सामाजिक व्यवहार का सर्वोपरि धर्म करुणा है, अहिंसा नहीं। अत एव वहाँ अहिंसा और दया की परिभाषा सर्वथा एक नहीं रहती। उस क्षेत्र में उनका सम्बन्ध इस प्रकार का बनता है :—

अहिंसा में दया का नियम और दया में अहिंसा का विकल्प। दया के बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती, इसलिए अहिंसा में दया के होने का

1—गांधी-वाणी पृष्ठ १७।

नियम है। सामाजिक क्षेत्र में दया के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि भी प्रयुज्य माने जाते हैं, इसलिए दया में अहिंसा का विकल्प है। जहाँ दया के लिए हिंसा का आचरण निर्दोष माना जाए, वहाँ ये दो हो जाती हैं।

मोक्ष-साधना का सर्वोपरि धर्म अहिंसा है। इसलिए यहाँ जो अहिंसा है, वही दया है। हिंसा किसी भी स्थिति में दया नहीं हो सकती। इसलिए अहिंसा को सर्वभूत क्षेमंकरी कहा गया है[1]। मुनि सब जीवों की दया के निमित्त अपने लिए बना भोजन नहीं लेते[2]। भगवान् महावीर ने सब जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किया[3]। भगवान् अहिंसा प्रधान थे। उनकी दया अहिंसा से विमुक्त नहीं हो सकती। हिंसा को दया मानना या दया के लिए होने वाली हिंसा को अहिंसा मानना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसीलिए उन्होंने मोक्ष-धर्म को निषेध की भाषा में ही रखा। उनकी वाणी के कुछ प्रसंग और सम्वाद पढ़िए—

भगवन्! जीव अल्पायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं?

गौतम! प्राणातिपात के द्वारा।

भगवन्! जीव दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं?

गौतम! प्राणातिपात-विरमण के द्वारा।

भगवन्! जीव अशुभ दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं?

गौतम! प्राणातिपात के द्वारा।

भगवन्! जीव शुभ-दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं?

१—अहिंसा तस-थावर-सव्वभूय-खेमंकरी। —प्रश्न व्याकरण २ संवर द्वार।

२—सव्वेसिं जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता।

तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठ भत्तं परिवज्जयंति॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वग्रहणं। 'दयार्थतया' दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष इत्येवं मत्वा तं परिवर्जयन्तः॥

—सूत्र कृतांग टीका २।६।४०

३—सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्न व्याकरण १ संवर-द्वार

गौतम ! प्राणातिपात-विरमण के द्वारा [1]।

संयम का अर्थ है—सुख का वियोग और दुःख का संयोग न करना [2]। सर्व जीवों के प्रति जो संयम है, वही अहिंसा है [3]। अहिंसा का आधार संयम है, करुणा नहीं। जर्मन विद्वान् अलबर्ट स्वीजर ने अहिंसा के आधार की मीमांसा करते हुए लिखा है—"यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें न मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएं कैसे बन्ध सकी और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है? यह दलील कि संन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोड़ी करुणा भी इस संकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती है परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधारित है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नहीं, अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियों के साथ के सम्पर्क में अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए; न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

१—कहणं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?
गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता······।
कहणं भंते ! जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?
गोयमा ! णो पाणे अइवाएत्ता······।
कहणं भंते ! जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?
गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता······।
कहणं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?
गोयमा ! णो पाणे अइवाएत्ता······। —भगवती ५।६।

२—सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ···दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ···।
—स्थानांग ४।४।३६।

३—दशवैकालिक ६।९।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।······

आचारांग सूत्र में (जिसका समय संभवतः तीसरी चौथी सदी पूर्व ईसा है।) अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते हैं—किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जन्तु को; किसी भी वस्तु को, जिसमें आत्मा है, किसी भी प्राणी को मारे नहीं, अनुचित व्यवहार न करे, अपमानित न करे, कष्ट न दे और सताए नहीं। धर्म का यही पवित्र, नित्य और मान्य उपदेश है जिसे जगत् के ज्ञाता सिद्ध पुरुषों ने घोषित किया है।

···कई प्रकारसे तो ऐसा भी होता है कि इस अहिंसा के प्रति बाध्यतापूर्ण अनुसरण की अपेक्षा इसे तोड़ देने में अधिक करुणा-भाव की पूर्ति होती है। जब एक जीवित प्राणी के दुःखों को कम नहीं किया जा सके तो दयापूर्वक उसे मारकर उसके जीवन का अन्त कर देना अलग खड़े रहने से कहीं अधिक नीतिपूर्ण है। जिस पालतू जानवर को हम नहीं खिला सकते, उसे भूख के कष्टदायक मरण की अपेक्षा हिंसा द्वारा कष्ट रहित शीघ्र अन्त कर देना अधिक करुणापूर्ण है। हम बार-बार अपने को ऐसी स्थिति में पाते हैं, जहाँ यह जरूरी होता है कि हम एक जीवन को बचाने के लिए दूसरे जीवन का नाश या हनन करें।

···अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता के व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतों का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।

···परन्तु पुनः कहना पड़ता है कि "भारतीय विचारधारा—हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुंचाना—ऐसा ही कहती रही है। तभी वह शताब्दियां गुजर जाने पर पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है [१]।"

१—Indian thoughts and its development

—Page 79-84,

अलबर्ट स्वीजर ने अहिंसा को संयममूलक बताकर करुणा से उसे अलग किया है। इस विचार का 'सूत्रकृतांग' में मार्मिक समर्थन मिलता है। भगवान् महावीर ने अपने समय की 'सातं सातेण विज्जइ'[1] 'सुख देने से सुख मिलता है'—इस विचारधारा का खण्डन किया और बताया कि ऐसे विचार मोक्ष के साधन नहीं बनते।

जीवन में करुणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु भूमिका बदलने पर उसका स्वरूप बदल जाता है। जननायक ऋषभनाथ जब राज्य-संचालन की भूमिका पर थे तब उन्होंने समाज-हित के लिए विविध व्यवस्थाएं कीं। इसका जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में उल्लेख आता है—वहाँ टीकाकार ने एक प्रश्न खड़ा किया है—"भगवान् ऋषभनाथ निरवद्य—निष्पाप रुचि वाले थे फिर भी उन्होंने सावद्य—सपाप वृत्तियों को पैदा करने वाली कला आदि का उपदेश क्यों किया?" इसका उत्तर है—"ये कार्य उन्होंने करुणा-प्रधान वृत्ति से किये। जब व्यक्ति में किसी एक रस का प्राधान्य होता है, तब वह दूसरे रस की अपेक्षा नहीं रख पाता[2]।"

दूसरा कारण बतलाया है—दायित्व से पैदा होने वाली कर्तव्य-बुद्धि। इसकी श्रेष्ठता के दो प्रमाण हैं—(१) परार्थता और (२) बहु-गुण और अल्प-दोष। वही कार्य श्रेष्ठ कार्य कहलाता है, जो दूसरों के लिए किया जाए और जिस कार्य में लाभ अधिक हो और अलाभ कम। ऋषभनाथ पहले राजा थे, इसलिए सभी प्रकार की व्यवस्थाएं करना उनका कर्तव्य था[3]।

१—सूत्रकृतांग ३।४।६,७।

२—किमसौ निरवद्यैकरुचिर्भगवान् सावद्यानुसम्बन्धिकलाद्युपदर्शने प्रवृत्ते? उच्यते—समयानुभावतो वृत्तिहीनेषु दीनेषु मनुजेषु दुःस्थं विभाव्य संजातकरुणैकरसत्वात्। समुत्पन्नविवक्षितरसो हि नान्यरसापेक्षो भवतीति।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २ वक्षस्कार

३—महापुरुषप्रकृतिरपि सर्वत्र परार्थत्वसाधकता बहुगुणाल्पदोषकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति—युगादौ जगद्व्यवस्था प्रथमेनैव पार्थिवेन विधेयेति? ज्ञातमपीति स्थानांग पञ्चमाध्ययनेऽपि। "धम्मणं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता- तंजहा—(१) छक्काया (२) गणो (३) राया (४) गाहावई (५) सरीरं।"

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २ वक्षस्कार

भूमिका बदली। वे राज्य छोड़ मुनि बने। आत्म-साधना की। केवली बने तब जाना और देखा कि "यह मोक्ष-मार्ग है, वही मुझे और दूसरों के लिए हित, सुख, निश्रेयस, सर्व दुःखमोचक और परम सुख का प्रापक होगा"। फिर उन्होंने महाव्रत-धर्म का निरूपण किया[1]। यहाँ मोक्ष-मार्ग में भी करुणा है, दूसरों के हित की बात है। अपनी अनुकम्पा की तरह दूसरों की अनुकम्पा भी मान्य है[2]। किन्तु इसमें उसका (करुणा का) स्वरूप बदल जाता है। वह सुख-सुविधा परक न होकर व्रत-परक हो जाती है।

भगवान् महावीर दुःख के आत्यन्तिक विच्छेद की साधना में लगे हुए थे। महात्मा बुद्ध करुणा-प्रधान थे इनकी साधना और दृष्टि का भेद पन्यास मुनि श्री कल्याण विजयजी के शब्दों में देखिए—"महावीर का खास लक्ष्य स्वयं अहिंसक बनकर दूसरों को अहिंसक बनाने का था; तब बुद्ध की विचार-सरणि दुःखितों के दुखोद्धार की तरफ झुकी हुई थी।

ऊपर-ऊपर से दोनों का लक्ष्य एक-सा प्रतीत होता था परन्तु वास्तव में दोनों के मार्ग में गहरा अन्तर था। महावीर दृश्यादृश्य दुःख की जड़ को उखाड़ डालना मुख्य कर्तव्य समझते थे और बुद्ध दृश्य दुःखों को दूर करना। पहले निदान को दूर कर सदा के लिए रोग से छुट्टी पाने का मार्ग बनाने वाले वैद्य थे; तब दूसरे उदीर्ण रोग की शान्ति करने वाले डाक्टर[3]।"

अहिंसा का व्यामोह

करुणा और करुणापूर्ण कार्य समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इसमें कोई दो मत नहीं; किन्तु मतभेद वहाँ होता है जहाँ उनकी अहिंसात्मकता सिद्ध की जाती है, उन्हें मोक्ष-मार्ग की साधना कहा जाता है। अहिंसा के

१—एस खलु मोक्खमग्गे मम अण्णेसिंच जीवाणं हिय सुहं णिस्से असकरे सव्व दुक्खविमोक्खणे परमसुहसमाणणे भविस्सइ…तएणं से भगवं समणाणं णिग्गंथाणं णिग्गंथीणय पंच महव्वयाइं सभावणगाइं छच्च जीवणिकाये धम्मं देसमाणे विहरति—। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २ वक्षस्कार

२—चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा—आयाणुकम्पए नाम णेगेणोपराणुकम्पए —स्थानांग ४-४

३—जैन विकास वर्ष ७ अंक ६-७। लेख भगवान् महावीर और बुद्ध।

लिए हिंसा निम्न प्रकार से की जाती है और ऐसे कार्यों को निर्दोष अल्प-हिंसा और बहु-अहिंसा के कार्य समझकर उन्हें धर्म माना जाता है, जैसे :—

(१) बड़े जीव को बचाने के लिए छोटे जीवों का वध किया जाए; उसमें अल्प दोष और बहुत लाभ है, थोड़ी हिंसा और बहुत अहिंसा है। बड़े जीवों की रक्षा में मनुष्य को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

२. देवता और पूज्य अतिथि के लिए हिंसा करने में दोष नहीं।

३. अनिवार्य हिंसा तथा धर्म की रक्षा के लिए हिंसा हो, वह निर्दोष है।

४. दुःख मिटा सकने की असमर्थता में दुःखी को मार डालना।

५. बहुत जीवों की रक्षा के लिए थोड़े जीवों को मार डालना।

६. पाप से बचाने के लिए पापी को मार डालना।

७. कष्ट से सुख मिलता है, इसलिए मारे जाने वाले प्राणी सुखी होंगे—इस दृष्टि से जीवों को मारना।

८. सबल के आक्रमण से निर्बल का रक्षण करने के लिए बल-प्रयोग करना प्रलोभन आदि देना।

उक्त कार्यों में अहिंसा का स्वीकार मानसिक भ्रम है। ये कार्य करुणा पूर्ण या रक्षात्मक भले हो, अहिंसात्मक नहीं होते। जैन विचार धारा इनके अहिंसात्मक होने का समर्थन नहीं करती। महात्मा गाँधी इस युग के महान् अहिंसा-धर्मियों में से एक हुए हैं। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के अनेक प्रयोग किए। वे राष्ट्रीय दायित्व को सम्हाले हुए थे, इसलिए सेवा और करुणा पूर्ण कार्यों का पथ-प्रदर्शन भी दिया किन्तु फिर भी वे हिंसा और अहिंसा के विवेक में बड़े जागरूक रहे—ऐसा जान पड़ता है। उक्त प्रश्नों के विचार में जैन दृष्टि के साथ-साथ महात्मा गाँधी के विचार भी अधिक उपयोगी होंगे।

उक्त प्रश्नों की क्रमिक मीमांसा :—

(१) एक बड़े जीव की रक्षा के लिए अनेक छोटे-मूक जीवों का वध करना दया नहीं है किन्तु स्पष्ट हिंसा है। इसे दया समझना मिथ्या ज्ञान है। एक समृद्ध व्यक्ति के लिए गरीबों का गला घोंटना न्याय नहीं हो सकता। बड़े

जीवों के लिए छोटे जीवों को मार डालने में दोष थोड़ा है और लाभ अधिक है—ऐसे सिद्धान्त अहिंसा के सनातन सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं।

बड़ों की सुख सुविधा के लिए छोटे या क्षुद्र जीवों की हिंसा को क्षम्य मानने वाले प्रजा की सुख-सुविधा के लिए किये जाने वाले यज्ञों को धर्म या पुण्य नहीं मानते प्रत्युत उसका विरोध करते हैं। इसका क्या आधार हो सकता? हजारों लाखों मनुष्यों की सुख-शान्ति के लिए दस-बीस पशुओं की बलि का विरोध करते समय क्या वे अपने उक्त सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करते? भगवान् महावीर ने तथा महात्मा बुद्ध ने यज्ञ-बलि का विरोध किया, उनके अनुयायी आज भी करते आ रहे हैं। इसका आधार सर्व-भूत-समता है, बड़ों के लिए छोटे जीवों का संहार नहीं। मनुष्यों की रक्षा के लिए क्षुद्र जीव जन्तुओं की हिंसा को धर्म-पुण्य मानने वाले यज्ञ-हिंसा का विरोध करें, यह न्याय नहीं हो सकता। जैनों को सोचना चाहिए कि बड़ों के लिए क्षुद्र जीवों की हिंसा में वे अल्प-पाप और बहुत धर्म मानकर किस दिशा की ओर चले जा रहे हैं।

महात्मा गाँधी ने इस विचार की काल्पनिकता बताते हुए लिखा है—"माणस ने मारी ने मांकड़ ने उगारवो ए धर्म होय, एवो प्रसंग पण आववो शक्य होय छे। मांकड़ ने मारी ने माणस ने उगारवो ए धर्म होय एवो प्रसंग पण शक्य छे। हूँ तो ए बन्ने जात ना प्रसंग मां थी उवरी जावा नो मार्ग कहूँ छूं। ते दया धर्म छे[1]।"

"बन्दर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ। यह भी स्पष्ट है उन्हें अगर मारना पड़े तो अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जाएगी[2]।"

(२)···देवताओं के लिए भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। कई व्यक्ति

१—नवयुग अंक १७ पृष्ठ १५९१ ता० २४।११।१९२१।

२—अपराधी जन्तु और गांधीजी।

—जैन भारती मई १९४८।

कहते हैं कि धर्म के कर्त्ता देवता ही हैं अतः उन्हें मांसादि की बलि देने में दोष नहीं। यह कथन अविवेकपूर्ण है[1]।

इसी प्रकार पूज्य और अतिथि के लिए हिंसा करने में दोष नहीं है—यह कहना भूल है[2]।

(३) नहीं छोड़ी जा सकने वाली हिंसा अनिवार्य भले कहलाए पर वह अहिंसा नहीं हो सकती। महात्मा गान्धी ने इसे बहुत स्पष्ट शब्दों में समझाया है—"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है...। कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योग मात्र सदोष है। खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा अन्त में इन अनिवार्य दोषों से मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसा से भी मुक्त हो जाता है[3]।"

धर्म के लिए जो हिंसा करता है, वह मन्द बुद्धि है[4]। भगवान् का धर्म सूक्ष्म है, इसलिए 'धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं'—यों धर्म-मूढ़ बनकर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए[5]। धर्म का स्वरूप ही अहिंसा है। उसके लिए भला हिंसा की कल्पना ही कैसे हो सकती है? इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने इस पर आश्चर्य भरे शब्दों में लिखा है—

१—धर्मोहि देवताभ्यः प्रभवति, ताभ्यः प्रदेय-मिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०५

२—पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८०,८१।

३—अहिंसा प्रथम भाग पृष्ठ ३५।३६ —महात्मा गांधी।

४—धम्म हेउं तसे पाणे थावरे च हिंसति मंदबुद्धी
—प्रश्नव्याकरण १ आ०

५—सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं-हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥
—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ७९।

"अहो ! हिंसापि धर्माय, जगदे मंदबुद्धिभिः[१] ।"

महात्मा गांधी के शब्दों में हिंसा से मत-रक्षा हो सकती है, धर्म-रक्षा नहीं। वे लिखते हैं—

"धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी सके छे ने पोतेज खुए छे। समुदाय मांज बचावी सकाय ते धर्म नहीं, मत छे[२] ।"

(४)...दुःख मिटाने के लिए दुःखी को मार डालने की बात भी अहिंसा की कोटि में नहीं आती। दुःख-मोचन-सम्प्रदाय का मन्तव्य था—"जिसकी दुःख से छूटने की आशा नहीं; वैसे दुःखी या रोगी जीव को मार डालना चाहिए[३] ।" महात्मा गांधी की बछड़े को मार डालने वाली घटना भी लगभग वैसी ही है। जैन विचार इससे सहमत नहीं। कई जैन करुणा को परम धर्म मानने लगे हैं, उनकी बात मैं नहीं कह सकता। उनको उक्त कार्य में आपत्ति हो ही नहीं सकती। मारने वाला केवल अनुकम्पा की बुद्धि से मारता है, किसी अन्य भावना से नहीं। अनुकम्पा मात्र को वे निरवद्य मानते हैं; तब उन्हें आपत्ति क्यों हो ? किन्तु भगवान् महावीर की अहिंसा प्रधान विचार धारा को मान्य करने वाले इसे निर्दोष नहीं मानते। उनके मतानुसार दुःखी को मार डालने में करुणा की पूर्ति होती होगी किन्तु अहिंसा नहीं हो सकती। हमें दूसरों के जीवन-हरण का अधिकार नहीं है। अनुकम्पा और उसके साधन—ये दोनों अहिंसात्मक हों, तब ही आत्म-शुद्धि के साधन बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। कष्ट-दशा में भी जो शान्त रहता है, वह अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाता है, इसलिए कष्ट-दशा से डरने की कोई बात नहीं है। उसका सामना करने का उचित मार्ग सीख लेना चाहिए और दूसरों को भी सिखा देना चाहिए। पशुओं को यह नहीं सिखाया जा सकता, यह सच है किन्तु हिंसा और अहिंसा के साधन समझने वालों और नहीं समझने वालों के लिए अलग-अलग नहीं होते।

(५)............थोड़े से हिंसक जीवों को मार डालने से बहुत सारे जीवों

१—योग-शास्त्र २।४० ।

२—नवजीवन पुस्तक १५ पृष्ठ १३८२ ता० २५९।२१ ।

३—नंदी-वृत्ति ।

की रक्षा होती है—ऐसा मानकर उन्हें नहीं मार डालना चाहिए[1]। अहिंसा के राज्य में किसी के लिए किसी को किसी भी दशा में मारने की बात आती ही नहीं। जो सहन करने की भूमिका में न हों उन्हें मारना पड़े; यह दूसरी बात है किन्तु इस मनुष्य-स्वभाव की दुर्बलता को धर्म का रूप तो नहीं मिलना चाहिए। इस विषय में महात्मा गाँधी से सम्बन्धित निम्नाङ्कित प्रसंग मननीय हैं :—

"एक बार महात्मा गाँधी से प्रश्न किया गया कि कोई मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय लोगों के बड़े भाग को कष्ट पहुंचा रहा है। दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो, तब उसका नाश करें तो यह अनिवार्य समझ कर अहिंसा में खपेगा या नहीं?

महात्मा जी ने उत्तर दिया—"अहिंसा की जो मैंने व्याख्या दी है, उसमें ऊपर के तरीके पर मनुष्य-बध का समावेश ही नहीं हो सकता। किसान जो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह बध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है[2]।"

"धर्म का मूल दया है, दया का मूल अहिंसा है, और अहिंसा का मूल जीवन-समता है, इसलिए जो सभी जीवों को अपने समान प्रिय समझता है, श्रेय समझता है, वही धर्मात्मा है[3]।"

आक्रान्ता को मारने की बात भी अहिंसा में नहीं समाती। समाज-शास्त्र ने हिंसात्मक दण्ड-विधि को अपनाना आवश्यक माना है। आक्रान्ता के प्रति आक्रमण करने का विधान किया है। धर्म-शास्त्र में इसके लिए कोई स्थान नहीं। उसका दण्ड-विधान अहिंसात्मक है, इसलिए समाज के सब विधि-विधानों का धर्म से अनुमोदन नहीं हो सकता। गुरुदास बनर्जी ने इस बात को बड़े मार्मिक शब्दों में समझाया है :—

१—रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं, न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥ —पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ८३।

२—अहिंसा पृष्ठ ५०।

३—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय।

"जान से मार डालने के लिए उद्यत आततायी को आत्म-रक्षा के लिए मार डालना प्रायः सभी देशों की सब समय की दण्ड-विधि द्वारा अनुमोदित है। मनु भगवान् ने भी कहा है—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन'—आततायी को मार डालने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता।

भारत की वर्तमान दण्ड-नीति भी यही बात कहती है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड-विधि का मूल उद्देश्य समाज की रक्षा करना है नीति-शिक्षा देना नहीं है। अतएव दण्ड-विधि की बात सब जगह सुनीति के द्वारा नहीं भी अनुमोदित हो सकती है[1]।"

(६) 'बहुत जीवों को मारने वाले ये जीव जीते रहे तो बहुत पाप करेंगे'—ऐसी अनुकम्पा करके भी हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए[2]।

पाप से बचाने की भावना निरवद्य है। इसके साधन भी निरवद्य होने चाहिए। मारने से पापी मिट सकता है, पाप नहीं मिटता। पाप मिटने का उपाय पापी के हृदय की शुद्धि है।

(७) सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है। मारे हुए सुखी जीव आगे सुखी होंगे—इस भावना से सुखी जीवों को नहीं मारना चाहिए[3]।"

कोई भी जीव दूसरे के प्रयत्न से अगले जीवन में सुखी या दुःखी नहीं बनता, वह अपने प्रयत्न से ही वैसा बनता है। इसलिए दूसरे जीव को सुखी बनाने के लिए मारना नितांत मानसिक भ्रम है।

(८) हिंसा की आग बलवान् और निर्बल दोनों के हृदय में हो सकती है। बलवान् से निर्बल को बचाने का अर्थ शक्ति के दुरुपयोग का प्रतिकार हो सकता है, हिंसा का प्रतिकार नहीं। हिंसा का प्रतिकार बलवान् और निर्बल दोनों की हिंसा-भावना छूटे, उसमें रहा हुआ है।

१—ज्ञान और कर्म पृष्ठ २१२.

२—बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥
—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ८४

३—कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥
—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ८६

इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—"ललचा कर या डरा धमका कर किसी को अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।" इसका मार्ग समझाना बुझाना ही है[1]। जबरदस्ती से हिंसक की हिंसा नहीं छुड़वाई जा सकती। महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा के मार्ग में बल-प्रयोग को निषिद्ध माना है।

"तब क्या गाय को बचाने के लिए मुसलमानों से लड़ूँगा और उनकी हत्या करूँगा? ऐसा करके तो मैं मुसलमान और गाय दोनों का ही दुश्मन बनूँगा[2]।"

"मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए, तब मुझे क्या करना चाहिए? मैं उसे मार डालूँ या उसके पैर पकड़कर उससे ऐसा न करने की प्रार्थना करूँ? अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर तो अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए[3]।"

"यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है—एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने बुझाने में है[4]।"

एक ही कार्य में अल्प-हिंसा और बहु-अहिंसा का सिद्धान्त जनतन्त्र की भावना देता है किन्तु विशुद्ध अहिंसा की भावना नहीं देता। अहिंसा के राज्य में थोड़ों के लिए बहुतों की हिंसा जैसे सदोष है, वैसे ही बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा भी सदोष है। उसमें निर्दोष है—हिंसा से बचना तथा जीवन की अशक्यता, सामाजिक दायित्व और सम्बन्धों को निभाने के लिए हिंसा करनी पड़े; उसे अहिंसा न समझना। हिंसा दैहिक जीवन की प्रवृत्ति है। उसके नियमन से अहिंसा प्रगट होती है। देह-मोह छूटे बिना हिंसा न छूटे, यह दूसरी बात है किन्तु उसे अहिंसा मान बैठना दोहरी भूल है। इसके

१—सारक्खमाणे—जीवनिकायान् रक्षन् स्वतः।

परतश्च सदुपदेशदानतो नरकादिपाताद्वेति ॥ —आचारांग-वृत्ति ५।५।१६१

२—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७७।

३—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७८

४—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ५९

फलस्वरूप हिंसा को छोड़ने की वृत्ति पैदा नहीं होती। अहिंसा की आराधना पूरी न हो सके, फिर भी उसके स्वरूप-ग्रहण की धारा पूरी होनी चाहिए। गृहस्थ अपने को अहिंसक मानते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि वे पूरी हिंसा को त्याग चुके हैं। उनकी गति अहिंसा की दिशा में होती है, वे हिंसा से यथा-सम्भव दूर हटना चाहते हैं; इसलिए वे अहिंसक हैं।

इस प्रसंग पर महात्मा गांधी के विचार देखिए—"आज हम ऐसी बहुत सी बातें करते हैं, जिन्हें हम हिंसा नहीं मानते हैं, लेकिन शायद उन्हें हमारे बाद की पीढ़ियां हिंसा के रूप में समझें। जैसे हम दूध पीते हैं या अनाज पकाकर खाते हैं, उसमें जीव हिंसा तो है ही यह बिल्कुल सम्भव है कि आने वाली पीढ़ी इस हिंसा को त्याज्य समझ कर दूध पीना और अनाज पकाना बन्द कर दे। आज यह हिंसा करते हुए भी हमें यह दावा करने में संकोच नहीं होता कि हम अहिंसा-धर्म का पालन करते हैं[1]।"

जीवन के व्यवहार सात्त्विक होते हैं, अल्प-हिंसा और अल्प-परिग्रह वाले होते हैं, तब महा-हिंसा और महा-परिग्रह की तुलना में व्यवहार-दृष्टि के अनुसार उन्हें अहिंसक मान लिया जाता है। यह अल्प-हिंसा में अहिंसा का आरोपण है, शुद्ध अहिंसा नहीं है। महात्मा गांधी के अनुसार को यह मन फुसलाने जैसा है। वे लिखते हैं :—

"जैसा कि निरामिष आहारी, 'वनस्पति खाने में हिंसा है'—यह जानता हुआ भी निर्दोषता का आरोपण कर मन को फुसलाता है[2]।"

अहिंसा के व्यापक रूप में गृहस्थ के हिंसामय कर्तव्यों की सीमा होती है। अनावश्यक और प्रमाद-विहित कार्य छूटते हैं। मुनि का मार्ग और भी संकड़ा बन जाता है। वे स्वयं कोई भी हिंसामय कार्य नहीं कर सकते, इससे आगे—हिंसामय कार्य का पथ-दर्शन भी नहीं कर सकते। महात्मा गांधी राजनीतिक दायित्व से मुक्त नहीं थे, फिर भी उनकी दृष्टि में हिंसा का समर्थन न करने और यथासम्भव हिंसा से बचने की वृत्ति सुरक्षित है…।

"हिंसा के मार्ग में किसी का भी नेतृत्व करने में मैं असमर्थ हूँ। यह तो हर एक क्षण में किसान अनुभव करता है कि खेती के लिए छोटे-छोटे कीड़ों

१—महादेव भाई की डायरी पृष्ठ २६।

२—व्यापक धर्म-भावना पृष्ठ ३०८   —आचारांग।

का नाश करना अनिवार्य है। इसके आगे आकर इस वस्तु को ले जाना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। हिंसा करने से जिस अंश तक बचना सम्भव हो, उस अंश तक बचना सबका धर्म है[१]।"

'जीवो जीवस्य जीवनम्'—जीव जीव का जीवन है, अथवा 'पाणी पाणा किलेसंति'—प्राणी प्राणी को मारता है अथवा 'मच्छगलागल'—एक बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है, वैसे बड़े जीव छोटे जीवों का भख लेते रहते हैं—ये तथ्योक्तियां हैं। मनुष्य को खाना पड़ता है, पीना पड़ता है। इसमें शाक-सब्जी, धान-पानी, अग्नि, हवा के जीवों का वध होता है। इनके योग से द्वीन्द्रिय आदि बड़े जीवों की भी हिंसा होती है। यह उनकी आवश्यकता है, मजबूरी है, ऐसा किये बिना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य में एक कमजोरी छिपी हुई होती है। वह हर जगह सचाई की ओर बढ़ने में रुकावट डालती है। इसीलिए एक सिद्धान्त बना लिया गया कि जो वस्तुएं मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक हैं, उनमें हिंसा कैसी? यह सिद्धान्त व्यापक बन गया किन्तु वस्तु-स्थिति कुछ और है। दुनियां स्वार्थी है। ऐसा किये बिना उससे रहा नहीं जाता, यह दूसरी बात है पर सचाई और कमजोरी एक नहीं, दो चीजें हैं।

१—अहिंसा पृष्ठ ५७।

दूसरा अध्याय

अहिंसा

वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े हैं[1]।

जो धर्म मोक्ष के अनुकूल है, उसे 'अणुधर्म' कहते हैं; वह धर्म 'अहिंसा' है। कष्टों के सहन को भी वीतराग ने धर्म कहा है[2]।

'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए'— यही ज्ञानियों के ज्ञान-वचनों का सार है। अहिंसा, समता, सब जीवों के प्रति आत्मवत्-भाव—इसे ही शाश्वत धर्म समझो[3]।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा को भगवान् ने जीवों के लिए कल्याणकारी देखा है। सर्व जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन व्यवहार ही अहिंसा है[4]।

अहिंसा का स्वरूप

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हरेक में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव हैं[5]।

१—पणया वीरा महावीहिं। —आचारांग

२—अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो। —सूत्रकृतांग १-२-१-१४

३—एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥ —सूत्रकृतांग १-१-४-१०

४—अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो। —दशवैकालिक ६।९

५—पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एयावए जीवकाये, नावरे कोइ विज्जई॥—सूत्रकृतांग १-११।७-८
जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अदुथावरा।
परियाए अत्थि से अज्ज, जेण ते तस थावरा॥
उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलेन्ति य।
सव्वे अक्कंत दुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया॥—सूत्रकृतांग १-१-४।८-९

उपरोक्त स्थावर जीवों के उपरान्त त्रस प्राणी हैं, जिनमें चलने फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवों के छह वर्ग हैं। इनके सिवाय दुनियां में और जीव नहीं है।

जगत् में कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरी पर्याय में होना कर्मों की विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं।

एक ही जीव, जो एक जन्म में त्रस होता है, दूसरे जन्म में स्थावर हो सकता है। त्रस हों या स्थावर, सब जीवों को दुःख अप्रिय होता है—यह समझकर मुमुक्षु सब जीवों के प्रति अहिंसा-भाव रखे।

अहिंसा की मर्यादा

मनसा-वाचा-कर्मणा जो स्वयं जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या जो जीव-हिंसा का अनुमोदन करता है; वह (प्रतिहिंसा को जगाता हुआ) वैर की वृद्धि करता है[1]।

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों लोक में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उन सबके प्राणातिपात से विरत होना चाहिए। सब जीवों के प्रति वैर की शान्ति को ही निर्वाण कहा है[2]।

मन, वचन और काया—इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है[3]।

१—सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाणुजाणा इ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

—सूत्रकृतांग १-१।१-३।

२—उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं॥

—सूत्रकृतांग १-११-११

३—तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय वक्केण, एवं हवइ संजए॥

—दशवैकालिक ८।३।

अहिंसा का व्यावहारिक हेतु

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिए निर्ग्रन्थ प्राणी-वध का वर्जन करते हैं[1]।

सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है, जीना सबको प्रिय है। सब जीव लम्बे जीने की कामना करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है[2]।

अहिंसा का नैश्चयिक हेतु

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवों के प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप-कर्म संचय कर बहुत दुःख पाता है। जो जीवों की घात करता है, वह और जो जीवों की घात कराता है, वह—दोनों ही पाप कर्म का उपार्जन करते हैं[3]।

जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है वह अपनी आत्मा को दण्ड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणियों का हनन करके परमार्थतः अपनी आत्मा का ही हनन करता है[4]।

आत्मौपम्य-दृष्टि

सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में तुल्य होती है। अहिंसा

१—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं॥
—दशवैकालिक ६।१०।

२—सव्वेपाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला।
अप्पियवहा, पियजीवणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं॥
—आचारांग १-२।३-७।

३—एएसु बाले पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु।
अइवायओ कीरइ पावकम्मं, निउज्जमाणे उ करेइ कम्मं॥
सूत्रकृतांग १,१०-५।

४—जातिं च वुड्ढिं च विणासयन्ते, बीयाइ अस्संजय आयदण्डे।
स च हरितच्छेदविधायी आत्मानं दण्डयतीतिआत्म दण्डः।
स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति।—सूत्रकृतांग १,७,९वृत्ति।

की भावना को समझने और बलवान् बनाने के लिए यह आत्म-तुला का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया है—

"छह जीव-निकाय को अपनी आत्मा के समान समझो[1]।"

"प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझो[2]।"

"हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दुःख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश में करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है, न किसी को मारता है और न किसी की घात करता है।

जो हिंसा करता है उसका फल पीछे भोगना पड़ता है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे[3]।"

जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठीकरी आदि से मारे, पीटे, ताडित करे, तर्जन करे, दुख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण हरण करे तो मुझे दुःख होता है। जैसे—मृत्यु से लेकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है—यह

१—अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाये। —दशवैकालिक १०।५

२—आय तुले पयासु···। —सूत्रकृतांग १।१०।३

३—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं अजावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिचावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेत्तव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।
अंजू चेव पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता न वि घायए।
अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभि पत्थए।

—आचारांग १-५।५,५

सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उसे परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है[1]।

आत्म-तुला के सिद्धान्त को प्रधान नहीं मानते, उन्हें समझाने के लिए भगवान् महावीर ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

मान लीजिए कि किसी जगह कई प्रावादुक एकत्रित होकर मण्डलाकार बैठे हों, वहाँ कोई सम्यग् दृष्टि पुरुष अग्नि के अंगारों से भरी हुई एक पात्री को संडासी से पकड़ कर लाए और कहे कि "हे प्रावादुको! आप लोग अंगार से भरी हुई इस पात्री को अपने-अपने हाथों में थोड़ी देर तक रखें। आप संडासी की सहायता न लें तथा एक दूसरे की सहायता न करें।" यह सुनकर वे प्रावादुक उस पात्री को हाथ में लेने के लिए हाथ फैलाकर भी उसे अंगारों से पूर्ण देखकर हाथ जल जाने के भय से अवश्य ही अपने हाथों को हटा लेंगे। उस समय वह सम्यग् दृष्टि उनसे पूछे कि "आप लोग अपने हाथों को क्यों हटा रहे हैं?" तो वे यही उत्तर देंगे कि हाथ जल जाने के भय से हम हाथ हटा रहे हैं। फिर सम्यग् दृष्टि उनसे पूछे कि "हाथ जल जाने से क्या होगा?" वे उत्तर देंगे कि दुःख होगा। उस समय सम्यग् दृष्टि उनसे यह कहे कि "जैसे आप दुःख से भय करते हैं, इसी तरह सभी प्राणी दुःख से डरते हैं। जसे आपको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है, इसी तरह दूसरे प्राणियों

१—मम अस्सायं दंडेण वा, अट्टिण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, आउटिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा, तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा, परिपाविज्जमाणस्स वा, कलामिज्जमाणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सत्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे पाणा, सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा, आउटिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसा कारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति। एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेयव्वा, न परितावेयव्वा; न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे नीयए सासए।

—सूत्रकृतांग २, १।१५

को भी दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए[१]।"

अहिंसा के दो रूप

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है—हिंसा न करना। न+हिंसा—इन दो शब्दों से अहिंसा शब्द बना है। इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विध्यात्मक दोनों हैं। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना 'निषेधात्मक अहिंसा' है,। सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म-सेवा, उपदेश, ज्ञान-चर्या आदि-आदि आत्म-हितकारी क्रिया करना 'विध्यात्मक अहिंसा' है। संयमी के द्वारा अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानी हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा में सत्-क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुँचने पर बात कुछ और है। निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा में सत्-प्रवृत्ति और सत्-प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्-प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय-दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

प्रो० तान-युन शान ने अहिंसा के दो रूपों की चर्चा करते हुए लिखा है—"अहिंसा भारतीय एवं चीनी संस्कृति का सामान्यतया प्रमुख अंग है। भारत में निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या प्रचलित है और चीन में विधि रूप। गांधीजी

१—हंभो पावादुया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह? पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ? दुक्खं दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे "......"। —सूत्रकृतांग २।२।४१

ने भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि—"इस देह में जीवन-धारण करने में कुछ न कुछ हिंसा होती है अतः श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा में हिंसा न करना रूप निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या की गई है[1]।"

आत्म-तुला के मर्म को समझे बिना हिंसा-वृत्ति नहीं छूटती। इसीलिए अहिंसा में मैत्री-रूप विधि और अमैत्री त्याग रूप निषेध दोनों समाये हुए हैं।

"सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ"—इन शब्दों में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त-विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है—'सब में अपने आपको देखो'। निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है—'किसी को भी हानि मत पहुँचाओ'। सब में अपने आपको देखने का अर्थ है—सबको हानि पहुँचाने से बचना। यह हानि-रहितता सब में एक ही कल्पना से विकसित होती है[2]।

नकारात्मक अहिंसा

स्थानांग सूत्र में संयम की परिभाषा बताते हुए लिखा है—"सुख का व्यपरोपण या वियोग न करना और दुःख का संयोग न करना—संयम है[3]।" यह निवृत्ति-रूप अहिंसा है।

आचारांग सूत्र में धर्म की परिभाषा बताते हुए लिखा है—"सब प्राणियों को मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उनको अधीन मत करो, दास-दासी

१—अमृत बाजार पत्रिका पृष्ठ १८ दिनांक ३१-१०-४४

२—हिन्दुस्तान ता० २८ मार्च ५३ पृष्ठ ४। भगवान् महावीर—उनका जीवन और संदेश।

लेखक :—साधु टी० एल० वास्वानी

३—बेइंदियाणं जीवा असमारम्भमाणस्स चउव्विहे संजमे कज्जइ, तंजहा—जीब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जीब्भामयेणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असंजोगेत्ता भवइ। —स्थानांग ४।४।

की तरह पराधीन बनाकर मत रखो, परिताप मत दो, प्राण-वियोग मत करो—यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ तीर्थंकरों ने इसका उपदेश किया है"। यह भी निवृत्ति-रूप अहिंसा है[१]।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! जीवों के सात-वेदनीय कर्म का बन्ध कैसे होता है?" भगवान् ने कहा—"प्राण-भूत जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करने से, दुःख न देने से, शोक नहीं उपजाने से, खेद उत्पन्न नहीं करने से, वेदना न देने से, न मारने से, परिताप न देने से जीव सात वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं[२]।"

अनुकम्पा से यानी सन्ताप आदि न देने से सुख वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। यही तत्त्व इसके पूर्ववर्ती पाठ में मिलता है।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीवों के अकर्कश वेदनीय कर्म कैसे बन्धते हैं?"

भगवान् ने कहा—"प्राणातिपात-विरति यावत् परिग्रह की विरति से, क्रोध-त्याग यावत् मिथ्या दर्शन शल्य के त्याग से जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं[३]।

भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति रूप अहिंसा का भी विधान किया है, किन्तु सब प्रवृत्ति अहिंसा नहीं होती। चारित्र में जो प्रवृत्ति है, वही अहिंसा है।

१—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, नियए, सासए।
—आचारांग ४-१-१२५।

२—कहं णं भंते! जीवाणं सातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति?
गोयमा! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहुणं पाणाणं जावसत्ताणं अदुक्खणयाए, असोयणयाए, अझूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणयाए, अपरियावणयाए। —भगवती ७।६

३—कहं णं भंते! जीवा अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति?
गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं, जाव परिग्गहवेरमणेणं, कोह विवेगेणं जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेणं। —भगवती ७।६।

अहिंसा के क्षेत्र में आत्मलक्षी प्रवृत्ति का विधान है और संसारलक्षी या पर-पदार्थ-लक्षी प्रवृत्ति का निषेध। ये दोनों क्रमशः विधि-रूप अहिंसा और निषेध-रूप अहिंसा बनते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"समिति-शुभ अर्थ का व्यापार प्रवृत्ति-धर्म है और गुप्ति—अशुभ अर्थ का नियन्त्रण निवृत्ति धर्म है[1]।"

"सर्व प्राणियों के साथ मैत्री रखो[2]"—यह भी प्रवृत्ति रूप अहिंसा का विधान करता है।

वस्तु तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझकर पीड़ित नहीं करते। वे समझते हैं—"जैसे कोई दुष्ट पुरुष मुझे मारता है, गाली देता है, बलात्कार से दास-दासी बना अपनी आज्ञा का पालन कराता है, तब मैं जैसा दुःख अनुभव करता हूँ, वैसे ही दूसरे प्राणी भी मारने-पीटने, गाली देने, बलात्कार से दास-दासी बना आज्ञा-पालन कराने से दुःख अनुभव करते होंगे। इसलिए किसी भी प्राणी को मारना, कष्ट देना, बलात् आज्ञा मनवाना उचित नहीं[3]।"

१—एयाओ पंच समिइओ, चरणस्स पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥
—उत्तराध्ययन २४-२६।

२—मेत्तिं भूएसु कप्पए —उत्तराध्ययन ६।२

३—से जहाणामए मम असायं दंडेण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा, तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा, परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्जमाणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा, जावलोमुक्खणणमायमविहिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाव सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमविहिंसा कारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परिता-वेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। —सूत्र कृतांग २।१।१५

अहिंसा आत्म-संयम का मार्ग

इस प्रकार आत्मार्थी आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला आत्मा की शुभ प्रवृत्ति करने वाला, संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला, आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का उद्धार करने वाला साधु अपनी आत्मा को सब पापों से निवृत्त करे[1]।

१—एवं से भिक्खू आयट्ठी, आयहिते; आयगुत्ते, आयजोगे, आयपरक्कमे; आयरक्खिए, आयाणुकंपए, आयतिप्फेडए, आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि।

—सूत्र कृतांग २।२।४२

तीसरा अध्याय

५५-८२

* हिंसा
* हिंसा की परिभाषा
* हिंसा के प्रकार
* अर्थ-दण्ड
* अनर्थ-दण्ड
* हिंसा-दण्ड
* अकस्मात् -दण्ड
* दृष्टिविपर्यास-दण्ड
* हिंसा के निमित्त
* मित्रदोषनिमित्तक
* मान निमित्तक
* मायानिमित्तक
* लोभनिमित्तक
* त्रस जीवों को हिंसा के निमित्त
* स्थावर जीवों की हिंसा के निमित्त
* अज्ञानवश हिंसा
* स्थावर जीवों की दशा और वेदना
* हिंसा सबके लिए समान
* हिंसा-विरति का उपदेश
* हिंसा के परिणाम का निर्णय
* हिंसा का सूक्ष्म विचार
* हिंसा का विवेक और त्याग
* हिंसाः जीवन को परवशता

हिंसा

प्राणातिपात पाप है, चण्ड है, रौद्र है, मोह और महा-भय का प्रवर्तक है[1]।

हिंसा गाँठ है, मोह है, मृत्यु है, नरक है[2]।

हिंसा की परिभाषा

प्रमाद और काम-भोगों में जो आसक्ति होती है, वही हिंसा है[3]।

हिंसा के प्रकार (पांच दण्ड-समादान)

हिंसा मात्र से पाप-कर्म का बन्ध होता है, इस दृष्टि से हिंसा का कोई प्रकार नहीं होता। किन्तु हिंसा के कारण अनेक होते हैं, इसलिए कारण की दृष्टि से उसके प्रकार भी अनेक हो जाते हैं। कोई जान बूझकर हिंसा करता है तो कोई अनजान में भी हिंसा कर डालता है। कोई प्रयोजनवश करता है। तो कोई बिना प्रयोजन भी।

सूत्र कृतांग में हिंसा के पांच समादान बतलाए हैं :—

१—अर्थ-दण्ड।

२—अनर्थ-दण्ड।

३—हिंसा-दण्ड।

४—अकस्मात्-दण्ड।

५—दृष्टि विपर्यास-दण्ड।

१—अर्थ-दण्ड

जो व्यक्ति अपने लिए, अपने ज्ञाति, परिवार, मित्र, घर, देवता, भूत और

१—एसो सो पाणवहो पावो, चण्डो, रुद्दो······मोहमहब्भयपवड्ढओ।

—प्रश्नव्याकरण १।२३

२—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

—आचारांग १।३।२३

३—एत्थ सत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवन्ति।

—आचारांग १-४-३६

यज्ञ आदि के लिए त्रस और स्थावर प्राणियों की स्वयं घात करता है, दूसरों से करवाता है, घात करते हुए को अच्छा समझता है, वह अर्थ-दण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बंध करता है[1]।

२—अनर्थ-दण्ड

कोई व्यक्ति त्रस प्राणियों को अपने शरीर की रक्षा के लिए नहीं मारता, चमड़े के लिए, मांस आदि के लिए भी नहीं मारता, इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, मार रहा है या मारेगा, इसलिए नहीं मारता, पुत्र-पोषण, पशु-पोषण, घर की सुरक्षा, श्रमण-ब्राह्मण की जीविका के लिए भी नहीं मारता किन्तु बिना प्रयोजन ही कुतूहल आदि के लिए वह प्राणियों को मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, अंगों को काट डालता है, चमड़े और नेत्रों को उखाड़ता है, उपद्रव करता है, वह अनर्थ दण्ड—निरर्थक हिंसा का भागी होता है।

इसी प्रकार बिना प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा करने वाला-चपलता वश वनस्पतियों को उखाड़ फेंकने वाला, नदी तालाब आदि जलाशयों के तट पर, पर्वत व वन आदि में बिना मतलब आग लगा देने वाला भी अनर्थ दण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बंध करता है[2]।

३—हिंसा-दण्ड

बहुत से व्यक्ति दूसरे प्राणियों को इस आशंका से मार डालते हैं कि "यह जीवित रहकर मुझे मार डालेगा।" जैसे कंस ने देवकी-पुत्रों को उनके द्वारा भविष्य में अपने नाश की शंका करके मार डाला था। तथा बहुत से अपने सम्बन्धी के घात के क्रोध से प्राणियों का घात करते हैं, जैसे परशुराम ने अपने पिता के घात से क्रोधित होकर कार्तवीर्य्य का वध किया था। बहुत से व्यक्ति

१—पढमे दण्डसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहा णाम ये केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा ...... सावज्जंति आहिज्जइ। सूत्रकृतांग २।२।१७

२—अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे......तप्पत्तिअं सावज्जंति आहिज्जइ।

सूत्रकृतांग २।२।१८

सिंह, सर्प आदि प्राणियों का वध, इसलिए कर डालते हैं कि यह जीवित रह कर दूसरे प्राणियों का वध करेगा।" इस प्रकार जो पुरुष किसी त्रस या स्थावर प्राणी की स्वयं घात करता है अथवा दूसरों से करवाता है अथवा प्राणी-घात करते हुए को अच्छा मानता है, उसको हिंसा हेतुक क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है[1]।

४—अकस्मात्-दण्ड

दूसरे प्राणी की घात करने के अभिप्राय से चलाये हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का बध हो जाए तो उसे अकस्मात्-दण्ड कहते हैं। क्योंकि घातक व्यक्ति का उस प्राणी की घात का आशय न होने पर भी अचानक उसकी घात हो जाती है। ऐसा देखने में भी आता है कि मृग का वध कर अपनी जीविका करने वाला व्याध मृग को लक्ष्य कर वाण चलाता है परन्तु वह वाण कभी-कभी लक्ष्य से भ्रष्ट होकर मृग को नहीं लगता किन्तु दूसरे पक्षी आदि को लग जाता है। इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी उस घातक के द्वारा पक्षी आदि का वध हो जाता है। अतः यह अकस्मात्-दण्ड कहलाता है।

किसान जब अपनी खेती का परिशोधन करता है, उस समय धान्य के पौधों की हानि करने वाले तृणों को साफ करने के लिए वह उनके ऊपर शस्त्र चलाता है परन्तु कभी-कभी उनका शस्त्र घास पर न लगकर धान्य के पौधों पर ही लग जाता है, जिससे धान्य के पौधों की घात हो जाती है। किसान का आशय धान्य के पौधों का छेदन करने का नहीं होता, फिर भी उससे धान्य के पौधों का छेदन हो जाता है। इसे अकस्मात्-दण्ड कहते हैं। अतः

१—अहावरे तच्चे दण्ड समादाणे हिंसादंडवत्तिएति आहिज्जइ, से जहाणामए केई पुरिसे ममं वा ममिं वा, अन्नं वा, अन्निं वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्स वा तं दण्डं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति अण्णेणवि णिसिरावेति अन्नंपि णिसिरंतं समणुजाणइ हिंसादण्डे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ।—सूत्रकृतांग २।२।१९

मारने की इच्छा न होने पर भी यदि अपने द्वारा चलाये हुए शस्त्र से कोई अन्य प्राणी मर जाए तो अकस्मात्-दण्ड देने का पाप होता है[1]।

५—दृष्टि-विपर्यास-दण्ड

अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड कहलाता है। जो पुरुष मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहूकार को चोर के भ्रम से दण्ड देता है, उसके दृष्टि-विपर्यास से होने वाली हिंसा के द्वारा पाप कर्म का बंध होता है[2]।

हिंसा के निमित्त

संक्षेप में हिंसा के निमित्त दो हैं—राग और द्वेष। राग के दो प्रकार हैं—माया और लोभ। क्रोध और मान—ये द्वेष के प्रकार हैं।

१—मित्र-दोष-निमित्तक

कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो थोड़े अपराध में महान् दण्ड देते हैं। माता पिता, भाई, भगिनी, स्त्री, पुत्र, पुत्र-वधू तथा कन्या के द्वारा थोड़ा अपराध होने पर भी वे उन्हें महान् दण्ड देते हैं। ठण्डक के दिनों में वे उन्हें वर्फ के समान ठण्डे जल में गिरा देते हैं तथा गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर गर्म जल डालकर कष्ट देते हैं एवं अग्नि, गर्म लोहा या गर्म तेल छिड़क कर उनके शरीर को जला देते हैं तथा बेंत, रस्सी, छड़ी आदि से मारकर उनके शरीर का चमड़ी उधेड़ देते हैं। ऐसे व्यक्ति जब घर पर रहते हैं तब उनके परिवार वाले दुःखी रहते हैं और उनके परदेश चले जाने पर वे सुखी रहते हैं। ऐसे पुरुष इस लोक में अपना तथा दूसरों का अहित करते हैं और मरने के पश्चात् वे परलोक में अत्यन्त क्रोधी और परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं। यह मित्र दोष से होने वाली हिंसा का निमित्त है[3]।

२—मान-निमित्त क

जाति, कुल, बल, रूप, तप, शास्त्र, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद से

१—सूत्रकृतांग २।२।२०

२—सूत्रकृतांग २।२।२१

३—सूत्रकृतांग २।२।२६

मत्त होकर जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों को तुच्छ गिनता है तथा अपने को सबसे श्रेष्ठ मानता हुआ दूसरे का तिरस्कार करता है, उसके मान-निमित्तक हिंसा-कर्म का बन्ध होता है[1]।

३—माया-निमित्तक

कई व्यक्ति बाहर से सभ्य और सदाचारी प्रतीत होते हैं परन्तु छिपकर पाप करते हैं। वे लोगों पर अपना विश्वास जमाकर पीछे से उन्हें ठगते हैं। वे बिल्कुल तुच्छ वृत्ति वाले होकर भी अपने को पर्वत के समान महान् समझते हैं। वे माया—कपट क्रिया करने में बड़े चतुर होते हैं। वे आर्य होते हुए भी दूसरे पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अनार्य-भाषा का व्यवहार करते हैं। कोई-कोई वैयाकरण आदि ऐसे धूर्त होते हैं कि शास्त्रार्थ में वादी को परास्त करने के लिए तर्क-मार्ग को सामने रख देते हैं तथा अपने अज्ञान को ढकने के लिए व्यर्थ शब्दाडम्बरों से समय का दुरुपयोग करते हैं। कपट के कार्यों से अपने जीवन को निंदित करने वाले बहुत से मायावी अकार्यों में रत रहते हैं। जैसे कोई मूर्ख हृदय में गड़े हुए बाण को पीड़ा से डरकर स्वयं न निकाले तथा दूसरे के द्वारा भी न निकलवाए किन्तु उसे छिपाकर व्यर्थ ही दुःखी बना रहे, इसी तरह कपटी पुरुष अपने हृदय के कपट को बाहर निकाल-कर नहीं फेंकता है तथा अपने अकृत्य को निंदा के भय से छिपाता है। वह अपनी आत्मा को साक्षी बनाकर अपने मायाचार की निंदा भी नहीं करता है तथा वह अपने गुरु के निकट जाकर उस माया की आलोचना भी नहीं करता है। अपराध विदित हो जाने पर गुरुजनों के द्वारा निर्देश किये हुए प्रायश्चित्तों का आचरण भी वह नहीं करता है। इस प्रकार कपटाचरण के द्वारा अपनी समस्त क्रियाओं को छिपाने वाले व्यक्ति की इस लोक में अत्यन्त निंदा होती है, उसका विश्वास हट जाता है, वह किसी समय दोष न करने पर भी दोषी माना जाता है, वह मरने के पश्चात् परलोक में नीच से नीच स्थान में जाता है। वह बार-बार तिर्यंच तथा नरक योनि में जन्म लेता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे को धोखा देकर लज्जित नहीं होता अपितु प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा अपने को धन्य मानता है। उसकी चित्त वृत्ति

१—सूत्रकृतांग २।२।२५

सदा प्रवञ्चना में लीन रहती है। उसके हृदय में शुभ-भाव की प्रवृत्ति होती ही नहीं। उसके माया-निमित्तक हिंसा कर्म का बन्ध होता है[१]।

<u>४—लोभ-निमित्तक</u>

कई व्यक्ति इस प्रकार कहा करते हैं कि "मैं मारने योग्य नहीं किन्तु दूसरे प्राणी मारने योग्य हैं। मैं आज्ञा देने योग्य नहीं किन्तु दूसरे प्राणी आज्ञा देने योग्य हैं। मैं दास, दासी आदि बनाने के योग्य नहीं परन्तु दूसरे प्राणी दास, दासी बनाने योग्य हैं। मैं कष्ट देने योग्य नहीं। किन्तु दूसरे प्राणी कष्ट देने योग्य हैं। मैं उपद्रव के योग्य नहीं परन्तु दूसरे प्राणी उपद्रव के योग्य हैं।" इस प्रकार उपदेश देने वाले काम-भोग में आसक्त रहते हैं। वे सदा विषय-भोग की खोज में लगे रहते हैं। इस प्रकार उस लोभी व्यक्ति के लोभ-निमित्तक हिंसा-कर्म का बन्ध होता है[२]।

कई व्यक्ति खान-पान के लिए हिंसा करते हैं। वे बिना ही अपराध प्राणियों को दण्ड देने वाले होते हैं। वे निर्दय जीव अपने और दूसरों के भोजनार्थ शालि, मूंग, गेहूँ आदि अन्नों को पकाकर इन प्राणियों को बिना ही अपराध दण्ड देते हैं। कई निर्दय व्यक्ति तीतर, बटेर तथा बतख आदि पक्षियों को बिना ही अपराध मारते-फिरते हैं[३]।

कई व्यक्ति वन्दना, पूजा, मान प्राप्त करने के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए या दुखों को रोकने के लिए नाना प्रकार से हिंसा करते हैं[४]।

१—गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्त लदुआ···एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। —सूत्रकृतांग २।२।२७

२—ते अप्पणो सच्चा मोसाइं एवं विउंजंति······दुवालसमें किरियट्ठाणे लोभ-वत्तिएत्ति आहिए। —सूत्रकृतांग २।२।२८

३—से जहा णाम ए केइ पुरिसे कलममसूरतिल-मुग्गमासनिप्फाव कुलत्थआलि-संदग पलिमंथगमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादण्डं पउंजंति, एवमेव तहप्प-गारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोत कविंजलमिय महिसवराहगाह-गोहकुम्मसिरिसिवमादियेहिं अयंते कूरे मिच्छादंड पउंजंति···।

—सूत्र कृतांग २।२।३५

४—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणण-पूयणाए, जाइमरण मोयणाए दुक्ख-पडिघायहेउं। —आचारांग १।२।१३

त्रस जीवों की हिंसा के निमित्त

कई व्यक्ति त्रस जीवों के शरीर लिए उनका वध करते हैं। कई उनके चमड़े के लिए, मांस के लिए, लोही के लिए, हृदय के लिए, पींछी के लिए, बाल के लिए, सींग के लिए, दाँत के लिए, डाढ़ के लिए, नख के लिए, आँख के लिए, हड्डी के लिए, अस्थि-मज्जा के लिए—आदि अनेक प्रयोजनों से त्रस जीवों की हिंसा करते हैं और कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही त्रस जीवों की हिंसा करते हैं[1]।

कई रसलोलुप व्यक्ति मधु के लिए मधु-मक्खियों को मारते हैं, शारीरिक दुविधा मिटाने के लिए खटमल आदि को मारते हैं, विभूषा बढ़ाने वाले रेशमी वस्त्र बनाने के लिए कीड़ों की घात करते हैं। इस प्रकार अज्ञानी जीव अनेक कारणों से त्रस जीवों की हिंसा करते हैं[2]।

स्थावर जीवों की हिंसा के निमित्त

कृषि (खेती) आदि के लिए, बावड़ी, कुआं, सरोवर, तालाब, भित्ति, चिता, वेदिका, आराम, स्तूप, प्रकार, द्वार, गोपुर, अट्टालक, चरिक (आठ हाथ प्रमाण का मार्ग), पुल, प्रासाद, विकल्प, भवन, घर, शयन, लयन, दूकान प्रतिमा, देवालय, चित्रशाला, प्रपा, आयतन, परिव्राजक का निवास-स्थान, भूमिगृह, मण्डप, घड़ा आदि वर्तनों के लिए, विविध कारणों से प्रेरित होकर मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति पृथ्वी-काय की हिंसा करते हैं[3]।

१—अप्पेगे अच्चाए वहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहन्ति, अप्पेगे सोणिताए वहन्ति, अप्पेगे हिययाए वहन्ति, एवं पित्ताए-वसाए-पिच्छाए-पुच्छाए-बालाए-सिंगाए-विसाणाए-दन्ताए-दाढाए-णहाए-ण्हारुणिए अट्ठीए अट्ठीमिंजाए-अट्ठाए-अणट्ठाए । —आचारांग १।६।५२

२—भमर मधुकरि रसेसुगिद्धा तहेव ते इन्दिए सरीरोवगरणट्ठयाए, बेइंदिए बहवे वत्थोहर परिमंडणट्ठयाए अण्णेहिय एव माविएहिं बहुहिं कारणसएहिं अबुहा इह हिंसंतिवसे पाणे। —प्रश्न व्याकरण १।३

३—करिसण, पोक्खरणी, वावी, कप्पिण कूव, सर, तलाग, चिति, चेतिय, खातिय आराम, विहार, थूँभ, पागार, दार, गोपुर अट्टालग, चरिय, सेतु,

स्नान करने के लिए, पानी पीने के लिए, भोजन बनाने के लिए, वस्त्र धोने के लिए और शुचि आदि करने के लिए पानी के जीवों की हिंसा करते हैं[1]।

कई व्यक्ति धान्य पकाने के लिए अन्य से पकवाने के लिए, दीपक जलाने और बुझाने के लिए अग्निकाय की हिंसा करते हैं[2]।

अनाज साफ करने के लिए छाज से फटक कर, पंखे से हवा लेकर, बींजने से बींजकर, खुशी आदि प्रगट करने के लिए, ताली बजाकर आदि-आदि कारणों से वायुकाय की हिंसा करते हैं[3]।

घर बनाने के लिए, म्यान बनाने के लिए, खाने के लिए, भोजन तैयार करने के लिए, पर्यंक, बाजोट-फलक आदि बनाने के लिए, मूसल-ऊखल बनाने के लिए तंत्री, तार, वाद्य-यन्त्र, वितत, पड़हादि बनाने के लिए, अन्य वाद्य यन्त्रों के लिए, वाहन, शकट, कण्डप, भक, तोरण, पक्षियों के स्थान, देवालय जालियों के लिए अर्धचन्द्र, वारशाक, चन्द्रशाला, वेदिका, पिढ़ी, नौका चंगेरी, खूँटी, सभा, प्रपा, डिब्बे; माला; विलेपन, वस्त्र, रथ, हल, शिविका सांग्रामिक, रथ, गाड़ी अट्टालक, नगर द्वार, गोपुर, यन्त्र, शूलि, लाठी बन्दूक शतघ्नी आदि आदि बनाने के लिए वनस्पति की हिंसा करते हैं[4]।

संकम, पासाय, विकप्प, भवन घर, शयण, लेण, आवण, चेतिय, देवकुल, चित्तसभा, पवा, आयतण अवसह, भूमिघर, मण्डवायण कए, भायण भण्डोवघरणस्स विविहस्सय अट्ठाए पुढविं हिंसंति। —प्रश्न व्याकरण १।६

१—जलंच-मज्जणय, पाय, भोयण, वत्थधोवण, सोयमादिएहि।

—प्रश्न व्याकरण १।७

२—पयण-पयावणं जलण-जलावणं विदंसणेहिय अगिणि।—प्रश्न १।८

३—सुप्प वियण तालविण्ट पेऊणमुह करतल सागपत्त वत्थमा-दिएहिं अणिलं।

—प्रश्न व्याकरण १।९

४—अगार, परियार, भक्ख, भोयण, सयणात्यण, फलग, मूसल, उक्खल, ततवितत, तोजज्ज, वहण, वाहण, मण्डप, विविह, भवन, तोरण, विडंग, देवकुल, जालय, अद्धचन्द, निज्जुहग, चंदसालिय, चेतिय, निस्सेणि, दोणी, चंगेरी, खीला, मेढ़क, सभा, प्पवा, कसह, गन्ध, मल्लागु, लेवणं, अंबरजुय, नंगल,

कई व्यक्ति क्रोध, मान, माया; लोभ; हास्य; रति-अरति शोक के लिए स्त्री; पुरुष; नपुंसक के लिए, जीवित्यव्य की कांक्षा के लिए; धर्म निमित्त; स्ववश या परवशता से, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन ही त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं[1] ।

कई व्यक्ति अर्थ (धन) के लिए; धर्म के लिए; काय-भोग के लिए अथवा अर्थ; धर्म और काम तीनों के लिए हिंसा करते हैं[2] ।

अज्ञान वश हिंसा

अज्ञानवश की हुई हिंसा भी हिंसा होती है। बहुत सारे व्यक्ति हिंसा के स्वरूप और परिणाम को नहीं जानते हुए हिंसा करते हैं[3] ।

जो जीवों के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, वे ही अहिंसा के स्वरूप को जानने में कुशल हैं और जो अहिंसा का स्वरूप जानने में कुशल हैं, वे ही जीवों का स्वरूप जानने में कुशल हैं[4] ।

विषय-भोग में आसक्त मनुष्य पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। उन्हें इस हिंसा का भान तक नहीं होता। यह

मतिय, कुलिय, संदण, सीया, रह, सगड, जाण जोग्ग, अट्टालग, चरिय, दार, गोपुर, फलिह, जंत, सूलिय, लउड, मुसंढि सतग्घी ।

—प्रश्न व्याकरण १।१०

१—कोहा, माणा, माया, लोभा, हासा, रति-अरति, सोय, वेदत्थी, जीव कामत्थ धम्महेउं सवसा, अवसा, अट्ठा, अणट्ठा, तसे पाणे, थावरेय, हिंसंति मंदबुद्धि ।

—प्रश्न व्याकरण १।११

२—अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्माकामा हणंति ।

—प्रश्न व्याकरण १।१२

३—अयाणमाणा वझुन्ति महब्भयं । —प्रश्न व्याकरण-१

४—जे दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने, से असत्थस्स खेयन्ने । जे असत्थस्स खेयन्ने से दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने ॥ —आचारांग १।४।

उनके लिए हितकारक तो है ही नहीं, परन्तु सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए बाधक है[1]।

स्थावर जीवों की दशा और वेदना

एकेन्द्रिय जीव अत्राण, अशरण, अनाथ और अबन्धु हैं, कर्म शृङ्खला से बन्धे हुए हैं। अकुशल विचार वाले मन्द बुद्धि व्यक्तियों द्वारा दुर्गम्य हैं[2]।

जैसे कोई किसी अन्धे मनुष्य को छेदे-भेदे या मारे-पीटे तो वह उसे न देखते हुए भी दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वी न देखते हुए भी अपने ऊपर होने वाले शस्त्र-प्रहार के दुख का अनुभव करती है[3]।

हिंसा सबके लिए समान

सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्य तीर्थिक मुक्त नहीं होते, वैसे ही सावद्य कर्म सेवी-स्वतीर्थिक भी मुक्त नहीं होते[4]।

हिंसा विरति का उपदेश

जो आसक्ति के कारण पृथ्वी-काय की हिंसा करते हैं, उनको अपनी आसक्ति के सामने हिंसा का भान नहीं रहता। परन्तु पृथ्वी की हिंसा न करने वाले संयमी मनुष्यों को इसका पूरा भान रहता है। बुद्धिमान् कभी पृथ्वी की

१—(क)—इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

—आचारांग १।२।

(ख)—तं से अहिआए, तं से अबोहिए। —आचारांग १।२।

२—……अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबन्धवे, कम्मनिगडबद्धे, अकुशल परिणाम मंदबुद्धि जण दुव्विजाणए…।

—प्रश्न व्याकरण १।४।

३—(क) अप्पेगे अन्धमब्भे…अप्पेगे उद्दवए। —आचारांग १।२।

(ख) पुढवीकाइयस्सणं भन्ते!…पच्चणुब्भ-वमाणे विहरति।

—भगवती १९।३।

४—एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे…—सूत्र कृतांग २-२-४१।

हिंसा न करे, न कराए और न करने की अनुमति दे। जो मुनि अनेक प्रवृत्तियों से होने वाली पृथ्वी की हिंसा को अच्छी तरह जानता है; वहीं सच्चा कर्मज्ञ है[1]।

इसी प्रकार जल में अनेक जीव हैं। जिन प्रवचन में साधुओं को कहा गया है कि जल जीव ही है, इस कारण उसका उपयोग करना हिंसा है। जल का उपयोग करते हुए दूसरे जीवों का भी नाश होता है। इसके सिवाय, दूसरों के शरीर का उनकी इच्छा-विरुद्ध उपयोग करना चोरी भी तो है। अनेक मनुष्य ऐसा समझ कर कि जल हमारे पीने और स्नान करने के लिए है, उसका उपयोग करते हैं और जल के जीवों की हिंसा करते हैं। यह उनको उचित नहीं है। जो मुनि जल के उपयोग से होने वाली हिंसा को यथावत् जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है। इसलिए बुद्धिमान् जल की हिंसा न करे[2]।

इसी प्रकार जो अग्निकाय के जीवों के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, वे ही अहिंसा का स्वरूप जानने में कुशल हैं। मनुष्य विषय-भोग की आसक्ति के कारण अग्नि तथा दूसरे जीवों की हिंसा करते रहते हैं; क्योंकि आग जलाने में पृथ्वी काय के, घास-पात के, गोबर-कचरे में रहने वाले तथा आग के आस-पास उड़ने वाले, फिरने वाले अनेक जीव जलकर मर जाते हैं[3]।

इसी प्रकार अनेक मनुष्य आसक्ति के कारण वनस्पति की हिंसा करते हैं। वनस्पति भी जन्म शील और सचित्त है। जैसे—जब कोई व्यक्ति हमें मारे पीटे तो हम दुःखी हो जाते हैं, वैसे ही वनस्पति भी दुःखी होती है। जैसे हम आहार लेते हैं, वैसे ही वह भी। हमारे समान वह भी अनित्य और अशाश्वत है। हम घटते-बढ़ते हैं, उसी प्रकार वह भी घटती-बढ़ती है। जैसे अपने में विकार होते हैं, वैसे ही उसमें में भी होते हैं। जो वनस्पति की

१—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा...मुणिपरिण्णातकम्मेति। —आचारांग १।२।

२—संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे...से हु मुणी परिण्णातकम्मेति ...। —आचारांग १।३।

३—नेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा·· परिण्णातकम्मेति —आचारांग १।४

हिंसा करते हैं, उनको हिंसा का भान नहीं होता। जो मुनि वनस्पति की हिंसा को जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है[1]।

अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिज् और औपपातिक—ये सब त्रस जीव हैं। इनकी हिंसा न करे, न कराए[2]।

इसी प्रकार वायु-काय के जीवों को समझना चाहिए। अनेक व्यक्ति आसक्ति के कारण विविध प्रवृत्तियों द्वारा वायु-काय की तथा उसके साथ ही अनेक जीवों की हिंसा करते हैं। क्योंकि दूसरे अनेक उड़ने वाले जीव झपट में आ जाते हैं और इस प्रकार आघात, संकोच, परिताप और विनाश को प्राप्त होते हैं[3]।

हिंसा के परिणाम का निर्णय

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणी हैं। हाथी, घोड़े आदि महाकाय प्राणी हैं। किन्तु इन सब की आत्मा समान है—असंख्य प्रदेश वाली है। इसलिए इनकी हिंसा से एक सरीखा वैर या कर्म-बन्ध होता है—ऐसा एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिए। इसी प्रकार इन प्राणियों में ज्ञान, विकास, इन्द्रिय, शरीर और पुण्य का तारतम्य है। इसीलिए इनको मारने में वैर या कर्म-बन्ध समान नहीं होता—ऐसा एकान्त वचन भी नहीं बोलना चाहिए। कारण यह है[4] —कर्म-बन्ध की न्यूनता और अधिकता का कारण मारे जाने वाले प्राणी की क्षुद्रता और महत्ता नहीं किन्तु मारने वाले के मन्द-भाव, तीव्र-भाव, अज्ञान-भाव, ज्ञान-भाव आदि-आदि अनेक कारण हैं। इसलिए एकमात्र मारे जाने वाले प्राणी के हिसाब से कर्म-बन्ध के न्यूनाधिक्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। हिंसा किसी भी स्थिति में हिंसा है। उससे कर्म-बन्ध होता है—यह निश्चित है।

१—णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा···ते मुणी परिण्णायकम्मे...।

आचारांग १-५।

२—अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइया, संमुच्छिमा, उब्भियया, उववातिया . एसं संसारेत्ति पवुच्चति। —आचारांग १।६

३—आचारांग १।१।७।६०।

४—जे केइ खुड्डगा पाणा, अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं वेरन्ति, असरिसंति य णो वदे। —सूत्र कृतांग २।५।६।

हिंसा का सूक्ष्म विचार

अप्रत्याख्यानी—पापकर्मों का त्याग न करने वाली आत्मा असंयत, अविरत होती है वह मन, वचन, शरीर और वाक्य के विचार से रहित हो, स्वप्न भी न देखती हो, अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान वाली हो, फिर भी पाप कर्म करती है[1]।

प्रश्न होता है कि जिस प्राणी के मन, वचन और काय पाप कर्म में लगे हुए नहीं हैं, जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता और जो मन, वचन, काय और वाक्य से रहित है तथा जो स्वप्न भी नहीं देखता यानी अव्यक्त विज्ञान वाला है, वह प्राणी पाप करने वाला नहीं माना जा सकता। क्योंकि मन, वचन और काया के पापयुक्त होने पर ही मानसिक, वाचिक और कायिक पाप किए जाते हैं, परन्तु जिन प्राणियों का ज्ञान अव्यक्त है अतएव जो पाप कर्मों के साधन से हीन हैं, उनके द्वारा पाप कर्म किया जाना सम्भव नहीं[2]।

उत्तर यह है कि जो जीव छह काय के जीवों की हिंसा से विरत नहीं हैं किन्तु अवसर, साधन और शक्ति आदि कारणों के अभाव से उनकी हिंसा नहीं करते, वे उन प्राणियों के अहिंसक नहीं कहे जा सकते। प्राणातिपात आदि पापों से जो निवृत्त नहीं, वह किसी भी अवस्था में हो, पाप कर्म करता है[3]।

जो लोग यह कहते हैं कि "प्राणियों की हिंसा न करने वाले जो प्राणी मनोविकल और अव्यक्त ज्ञान वाले हैं, उनको पाप कर्म का बन्ध नहीं होता"— यह कहना ठीक नहीं है। एक वधक किसी कारण से गाथापति अथवा उसके पुत्र या राजा अथवा राजकुमार के ऊपर क्रुद्ध होकर इस खोज में रहता है कि अवसर मिलने पर मैं इनका वध करूँगा। वह अपनी इच्छा को सफल करने

१—एस खलु भगवता अक्खाए असंयते अविरते, अप्पडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे सकिरए असंवुडे एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, से बाले, अवियारं मणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे च से कम्मे कज्जइ।
सूत्र कृतांग २-४-६३

२—असंतएणं मणेणं पावएणं···कस्स णं तं हेउं ?···तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु—सूत्र कृतांग २-४-६४।

३—असंतएणं मणेणं...पावे कम्मे कज्जति, तं सम्मं।—सूत्र कृतांग २-४-६४।

का अवसर नहीं पाता, तब तक दूसरे कार्य में लगा हुआ उदासीन सा बना रहता है। उस समय वह यद्यपि घात नहीं करता तथापि उसके हृदय में उनके घात का भाव उस समय भी बना रहता है। वह सदा उनके घात के लिए तत्पर रहता है परन्तु अवसर न मिलने पर घात नहीं कर सकता। अतः घात न करने पर भी वैसा भाव होने से वह पुरुष सदा उनका घातक ही है। इसी तरह अप्रत्याख्यानी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय प्राणी भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और भोगों से अनुगत होने के कारण प्राणातिपात आदि पापों से दूषित ही हैं, वे उनसे निवृत्त नहीं हैं। जैसे—अवसर न मिलने पर गाथापति आदि का घात न करने वाला पूर्वोक्त पुरुष उनका अवैरी नहीं किन्तु वैरी ही है। उसी तरह प्राणियों का घात न करने वाले अप्रत्याख्यानी जीव भी प्राणियों के वैरी ही हैं, अवैरी नहीं[1]।

जिन प्राणियों का मन, राग द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से ढका हुआ है, वे सब ही दूसरे प्राणियों के प्रति दूषित भाव रखते हैं। क्योंकि एक मात्र विरति ही भाव को शुद्ध करने वाली है। वह (विरति) जिनमें नहीं है, वे प्राणी सभी प्राणियों के भाव से वैरी हैं। जिनके घात का अवसर उन्हें मिलता, उनकी घात उनसे न होने पर भी वे उनके अघातक नहीं हैं। इसलिए जिस प्राणी ने पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया, वह स्पष्ट विज्ञान हीन भले हो, फिर भी पाप कर्म करता है[2]।

फिर प्रश्न होता है—यूं तो सभी प्राणी सभी प्राणियों के शत्रु हो जाते हैं; पर यह जंचता नहीं। कारण कि हिंसा का भाव परिचित व्यक्तियों पर ही होता है, अपरिचित व्यक्तियों पर नहीं। संसार में सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अनन्त प्राणी ऐसे हैं, जो देश, काल और स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं। वे इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि हमारे जैसे अर्वाग्दर्शी पुरुषों ने उन्हें न तो कभी देखा है और न सुना है। वे किसीके न तो वैरी हैं और न मित्र ही। फिर उनके प्रति किसी का हिंसामय भाव होना किस प्रकार सम्भव है?

१—तत्थ खलु भगवया पण्णत्ते दिट्ठन्ते······हंता भवति।

—सूत्र कृतांग २।४।६४।

२—जहा से वहए···पसढविउवायचित्तदंडे भवइ। —सूत्र कृतांग २।४।६४।

इसलिए सभी प्राणी सभी प्राणियों के प्रति हिंसा के भाव रखते हैं, यह नहीं माना जा सकता[१]।

उत्तर यह है—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं किन्तु प्रवृत्त है, उसकी चित्तवृत्ति उसके प्रति सदा हिंसात्मक ही बनी रहती है। इसलिए वह हिंसक ही है, अहिंसक नहीं। जैसे कोई ग्राम की घात करने वाला व्यक्ति जिस समय ग्राम की घात करने में प्रवृत्त होता है, उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोड़ कर किसी दूसरे स्थान में चले गए हैं, उनकी घात उसके द्वारा नहीं होती तो भी वह घातक पुरुष उन प्राणियों का अघातक या उनके प्रति हिंसात्मक चित्तवृत्ति न रखने वाला नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा उन प्राणियों के भी घात की ही है अर्थात् वह उन्हें भी मारना ही चाहता है परन्तु वे उस समय वहाँ उपस्थित नहीं हैं, इसलिए नहीं मारे जाते। इसी तरह जो प्राणी देश-काल के दूर के प्राणियों के घात का त्यागी नहीं है, वह उनका भी हिंसक ही है। उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति हिंसात्मक ही है। इसलिए पहले जो कहा गया है कि अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों के हिंसक हैं—यह ठीक ही है। इस विषय में दो उदाहरण और हैं। एक संज्ञी का और एक असंज्ञी का। उनका आशय यह है—एक पुरुष एक मात्र पृथ्वीकाय से अपना कार्य करना नियत कर शेष प्राणियों के आरम्भ करने का त्याग कर देता है। वह देश काल से दूरवर्ती पृथ्वीकाय का भी हिंसक ही है, अहिंसक नहीं। पूछने पर वह यही कहता है—"मैं पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हूँ, कराता हूँ और करने वाले का अनुमोदन करता हूँ।" परन्तु वह यह नहीं कह सकता कि मैं श्वेत या नील पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हूँ, शेष का नहीं। क्योंकि उसके किसी भी पृथ्वी-विशेष का त्याग नहीं है, इसलिए आवश्यकता न होने से या दूरी आदि के कारण वह जिस पृथ्वी का आरम्भ नहीं करता, उसका भी अघातक नहीं कहा जा सकता एवं उस पृथ्वी के प्रति उसकी चित्त वृत्ति हिंसा रहित नहीं कही जा सकती। इसी तरह प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान नहीं किये हुए प्राणी को देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों का अघातक या उनके प्रति

१—इह खलु बहवे पाणा······पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—सूत्र कृतांग २।४।६५।

उसकी अहिंसात्मक चित्तवृत्ति नहीं कही जा सकती। यह संज्ञी का दृष्टान्त है। अब असंज्ञी का दृष्टान्त बताया जाता है।

जो जीव ज्ञान-रहित तथा मन से हीन हैं, वे असंज्ञी कहे जाते हैं। ये जीव सोये हुए, मतवाले तथा मूर्च्छित आदि के समान होते हैं। पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के प्राणी तथा विकलेन्द्रिय से लेकर सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के त्रस प्राणी असंज्ञी हैं। इन असंज्ञी प्राणियों में तर्क, संज्ञा, वस्तु की आलोचना करना, पहचान करना, मनन करना और शब्द का उच्चारण करना आदि नहीं होता तो भी ये प्राणी दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं। यद्यपि इनमें मन, वचन और काया का विशिष्ट व्यापार नहीं होता तथापि ये प्राणातिपात आदि अठारह पापों से युक्त हैं, इसलिए ये प्राणियों को दुःख, शोक और पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं हैं, इसलिए इन असंज्ञी जीवों के भी पाप कर्म का बंध होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य प्रत्याख्यानी नहीं है, वह चाहे किसी अवस्था में हो, सबके प्रति दुष्ट आशय होने के कारण उसके पाप-कर्म का बन्ध होता ही है। जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त के संज्ञी और असंज्ञी जीवों को देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति दुष्ट-आशय होने से कर्म-बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान-रहित प्राणी को देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट-आशय होने से कर्म बन्ध होता ही है[1]।

हिंसा की सूक्ष्म विचारणा पर क्रिया का सिद्धान्त विकसित हुआ। कर्म-बन्ध की निमित्तभूत चेष्टा को क्रिया कहते हैं। वह पाँच प्रकार की है—

(१) कायिकी
(२) आधिकरणिकी
(३) प्राद्वेषिकी
(४) पारितापनिकी
(५) प्राणातिपातिकी

१—कायिकी

शरीर से होने वाली असंयत प्रवृत्ति को कायिकी क्रिया कहते हैं। वह

1—असंजए अविरए········पावे य से कम्मे कज्जइ।

—सूत्र कृतांग २।४।६६।

दो प्रकार की होती है—(१) अनुपरत (२) दुष्प्रयुक्त। असंयम में प्रवृत्त नहीं किन्तु निवृत्त भी नहीं, उस आत्मा की शारीरिक प्रवृत्ति 'अनुपरत कायिकी' कहलाती है। 'दुष्प्रयुक्त कायिकी' शरीर की दुष्प्रवृत्ति के समय होती है। यह संयति मुनि के भी हो सकती है। अविरति की अपेक्षा मुनि हिंसक नहीं होता। सर्व पाप कर्म की विरति करने वाला ही मुनि होता है। उसके प्रमादवश कभी दुष्प्रवृत्ति हो जाती है, वह हिंसा है। जो सर्व विरति नहीं होते, वे अविरति की अपेक्षा भी हिंसक होते हैं। हिंसा में प्रवृत्ति न करते समय प्रवृत्ति की अपेक्षा अहिंसक होते हुए भी अविरति की अपेक्षा अहिंसक नहीं होते[1]।

इसी दृष्टि से सर्व-विरति को पण्डित और धर्मी, अपूर्ण विरति को बाल-पण्डित और धर्माधर्मी, अविरति को बाल और अधर्मी कहा है[2]।

२—आधिकरणिकी

हिंसा के साधन—यंत्र, शस्त्र-अस्त्र आदि का निर्माण करना और पहले बने हुए यंत्र आदि को प्रयोग के लिए तैयार करना क्रमशः निर्वर्तनाधिकरणी और संयोजनाधिकरणी क्रिया कहलाती है।

३—प्राद्वेषिकी

अपने आप पर या दूसरों पर अथवा दोनों पर द्वेष करना।

४—पारितापनिकी

अपने आपको कष्ट देना, दूसरों को कष्ट देना या दोनों को कष्ट देना।

१—तत्थ णं जेते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारम्भा, नो परारम्भा जाव अणारम्भा। असुहं जोगं पडुच्च आयारम्भा वि, जाव-णो अणारम्भा, तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारम्भा वि, जाव-नो अणारम्भा।

—भग० १-१-४८

२—(क) अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरया-विरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ—सूत्र २।२।३९

(ख) जीवाणं भंते! किं धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया? गोयमा! जीवा धम्मे वि ठिया, अधम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया।

भगवती १७।२

५—प्राणातिपात-क्रिया

अपनी घात करना, दूसरों की घात करना अथवा दोनों की घात करना।

इस क्रिया-पंचक की अपेक्षा जीव सक्रिय और अक्रिय दोनों प्रकार के होते हैं।

एक जीव दूसरे जीव की अपेक्षा कदाचित् त्रिक्रिय होता है, कदाचित् चतुष्क्रिय और कदाचित् पंचक्रिय[१]। तीन क्रिया प्रत्येक अविरत प्राणी में होती ही है। वह किसी को कष्ट देता है तब चार और प्राण-घात करता है तब पाँच क्रियाएं होती हैं।

क्रिया जैसे वर्तमान जीवन की अपेक्षा होती है, वैसे अतीत जीवन की अपेक्षा भी होती है। अतीत शरीर या उसका कोई भाग हिंसा में व्यापृत होता है, वह शरीर अधिकरण तो है ही। हिंसा सम्बन्धी अकुशल मन का प्रत्याख्यान नहीं होता, उसका व्यक्त शरीर या शरीर-भाग कष्ट देने में व्यापृत होता है, उससे प्राण-वियोग होता है—इस प्रकार अतीत शरीर से भी पांच क्रियाएं होती हैं[२]। अतीत शरीर की क्रिया द्वारा कर्म-बंध होता है, वह प्रवृत्ति रूप नहीं होता किन्तु वह शरीर उस व्यक्ति के द्वारा व्युत्सृष्ट-त्यक्त

१—जीवेणं भंते! जीवातो कइकिरिए?

गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए……।

—प्रज्ञापना पद २२

२—तत्रेयं पञ्चानामपि क्रियाणां भावना तत्कायस्य व्याप्रियमाणत्वात् कायिकी कायाधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, तत् आधिकरणिकीप्राद्वेषिक्यादयस्त्वेवं यदा तमेव शरीरैकादेशाभि-घातादिसमर्थमन्यः कश्चनापि प्राणातिपातेद्यतो दृष्ट्वा तस्मिन् घातेन्द्रियादौ समुत्पन्ने क्रोधादिकारणोऽभिघातादिसमर्थमिदं शस्त्रमिति चिन्तयन् अतीवक्रोधादिपरिणामं भजन्तं पीडाश्चोत्पादयति जीविताच्च व्यपरोपयति तदा तत्सम्बन्धिप्राद्वेषिक्यादिक्रियाकारणत्वात् नैगमनयाभिप्रायेण तस्यापि प्राद्वेषिकी पारितापनिकी प्राणातिपातक्रिया च।

—प्रज्ञापनावृत्ति पद २२

नहीं होता—उसने विरति द्वारा अतीत शरीर से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा, इसलिए अविरति-रूप पाप-कर्म का बंध होता है[1]।

जो व्यक्ति अतीत के शरीर और अधिकरण को तीन करण, तीन योग से त्याग देते हैं, वर्तमान शरीर के द्वारा भी इनमें से कोई क्रिया नहीं करते, वे अक्रिय होते हैं[2]। देह-दशा में अक्रिय केवल सर्व विरति मुनि ही हो सकते हैं[3]।

एक व्यक्ति ने बाण फेंका। हरिण मरा। बाण फेंकने वाले व्यक्ति को पाँच क्रियाएं लगीं और जिन जीवों के शरीर से बाण बना, उन जीवों को भी पाँच क्रियाएं लगीं[4]।

(१) बाण फेंकने वाला पाँच क्रिया से स्पृष्ट हो, यह सही है किन्तु जिन जीवों के व्यक्त शरीर से बाण बना, वे भी पाँच क्रिया से स्पृष्ट हों—यह कैसे हो सकता है? व्यक्त शरीर अचेतन हो जाता है। उसके द्वारा कोई दूसरा व्यक्ति हिंसा करे, तब उस शरीर के निष्पादक जीव को क्रिया क्यों लगे?

(२) और यदि लगे तो मुक्त जीव भी इस दोष से मुक्ति नहीं पा सकते। उनके त्यक्त शरीर का भी हिंसा में प्रयोग हो सकता है।

(३) त्यक्त शरीर के दुष्प्रयोग से उनके निष्पादक जीवों के जैसे पाप-कर्म की क्रिया होती है, वैसे ही उनके शरीर धर्मोपकरण के रूप में धर्म के साधन बनें तो उनके निष्पादक जीवों के पुण्य-कर्म की क्रिया भी होनी चाहिए।

इनका समाधान इस प्रकार है :—

१—विरतिप्रतिपत्तौ व्युत्सृष्टत्वेन तन्निमितक्रियाया असंभवात्। शेषा अक्रिया नोच्यन्ते विरत्य-भावतः स्वशरीरस्य भवान्तरगतस्यात्युत्सृष्टत्वेनावश्यक्रिया-संभवात्। —प्रज्ञापना पद २२

२—मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमत।

३—स्यादक्रियो यदा पूर्वजन्म भाविशरीरमधिकरणं त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृष्टं भवति न चापि तज्जन्मभाविना शरीरेण काञ्चिदपि क्रियां करोति। इदं चाक्रियत्वं मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यं तस्यैव सर्व-विरति-भावात्……।

—प्रज्ञापना पद २२

४—जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणुं निव्वत्तिए, ते वि यणं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे……। —भगवती ५-६-१०

(१) बंध अविरति के परिणाम से होता है। अविरति का परिणाम जैसे बाण फेंकने वाले व्यक्ति के होता है, वैसे ही जिन जीवों के शरीर से बाण बना उनके भी होता है। इसलिए इनके अविरति की दृष्टि से पाप-कर्म की क्रिया होती है।

(२) मुक्त जीवों के अविरति नहीं होती, इसलिए उनके त्यक्त शरीर द्वारा पाप-कर्म का बंध नहीं होता।

(३) जिन जीवों के शरीर से धर्मोपकरण बनता है, उनसे उनके पुण्य कर्म का बंध नहीं होता। पाप-बंध का कारण—अविरति जैसे निरन्तर होती है, वैसे पुण्य बंध का कारण—शुभ प्रवृत्ति निरन्तर नहीं होती। वह विवेक पूर्वक या प्रयत्न पूर्वक करने से ही होती है। तात्पर्य यह है—किसी जीव का त्यक्त शरीर किसी दूसरे जीव के हिंसा का सहायक बनता है, इतने मात्र से उसको हिंसा का दोष नहीं लगता किन्तु उसके भी पूर्व शरीर की आसक्ति त्यक्त नहीं होती, इसलिए उसे आसक्ति रूप हिंसा का दोष लगता है, प्रवृत्ति रूप नहीं। वह धर्म करने का साधन बनता है, तब उसे उसके द्वारा धर्म का फल नहीं मिलता। कारण यह है—धर्म तभी होता है जबकि आत्मा की उसमें प्रवृत्ति होती है, अन्यथा वह नहीं होता[1]।

अविरति की अपेक्षा जीव को अधिकरणी और अधिकरण भी कहा गया है।

१—ननु पुरुषस्य पञ्चक्रिया भवन्तु, कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात् धनुरादेर्निर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्चक्रिया ? कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीं अचेतनत्वात्, अचेतनकायमात्रादपि बन्धाऽभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः, तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोकेविपरीवर्तमानत्वात्, किंच यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्मबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानाम्। एवं पात्रदंडकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धनानि स्युः ? न्यायस्य समानत्वात् इति। अत्रोच्यते अविरतपरिणामाद् बन्धः अविरत-परिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपि इति। सिद्धानां तुनास्त्यसौ इति न बन्धः। पात्रादि जीवानां तु न पुण्यबंधहेतुत्वम्। तद्धेतोर्विवेकादेस्तेषु अभावाद् इति……। —भगवती टीका ५।६

अधिकरण

हिंसादि पाप कर्मों के हेतु भूत वस्तु को अधिकरण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) आन्तरिक (२) बाह्य। शरीर और इन्द्रियाँ आन्तरिक अधिकरण है और कुल्हाड़ी आदि परिग्रहात्मक वस्तुएं बाह्य अधिकरण। जिसके ये होते हैं, वह जीव अधिकरणी कहलाता है और शरीरादि अधिकरण से कथंचिद् अभिन्न होने से अधिकरण भी कहलाता है।

सर्व विरति वाले जीवों के शरीरादि अधिकरण नहीं होते। अविरति वाले जीवों के ही शरीरादि अधिकरण होते हैं[१]।

हिंसा का विवेक और त्याग

जो अपना दुःख जानता है, वह अपने से बाहर—दूसरे का दु;ख जानता है और जो अपने से बाहर—दूसरे का दुःख जानता है, वही अपना दु;ख जानता है[२]।

जो व्यक्ति जीवों की हिंसा में अपना अनिष्ट समझता है, वही उसका त्याग कर सकता है[३]।

शान्ति को प्राप्त हुए संयमी पुरुष दूसरे जीवों की हिंसा कर जीने की इच्छा नहीं करते[४]।

बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि 'प्रमादवश पहले जो कुछ किया, वह आगे नहीं करूंगा[५]।

१—जीवेणं भंते ! किं अधिकरणी अधिकरणं ?
गोयमा ! जीवे अधिकरणी वि अधिकरणं वि।
से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ जीवे अधिकरणी वि अधिकरणं पि ? गोयमा ! अविरति पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव अहिकरणं पि। —भगवती १६।१

२—जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।
एयं तुल मन्नेसिं। —आचारांग १-१-७।

३—पहू एजस्स दुगंछणाए, आयंकदंसी अहियन्ति नच्चा। —आचारांग १-१-७।

४—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं। —आचारांग १।१।७।

५—इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमादेणं। —आचारांग १।१।४।

विविध कर्मरूपी हिंसा की प्रवृत्ति मैं नहीं करूं—इस भावना से जो उठा है, इसी पर मनन किया है, अभय का मर्म समझा है—वही बुद्धिमान् व्यक्ति इन प्रवृत्तियों को नहीं करता। जिन प्रवचन में ऐसे ही व्यक्ति को 'उपरत' और 'अनगार' कहा है[1]।'

जैन दर्शन का उद्देश्य है—निर्वाण—मोक्ष। निर्वाण कर्म की शान्ति से मिलता है। कर्म की शान्ति सर्व-विरति से होती है[2]। सर्व-विरति प्रत्याख्यानीयचारित्र-मोह के विलय से प्राप्त होती है[3]।

प्राणी मात्र का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह सर्व-विरति बने। किन्तु प्रत्याख्यानीय मोह का उदय रहते सर्व-विरति नहीं आती। यह आत्मा की अशक्यता है। इस अशक्यता की दशा में यथाशक्य विरति का विधान है। किन्तु जिनके अप्रत्याख्यानीय मोह का उदय होता है वे अंश तोऽपि विरति नहीं कर सकते[4]। उनके लिए सम्यग्-दृष्टि बनने की व्यवस्था है। अनन्तानुबन्धी मोह के उदय से जो सम्यग्-दृष्टि भी नहीं बन सकते, उनके लिए निर्जरा-तपस्या का मार्ग खुला रहता है। निर्जरा-तप, सम्यग् दृष्टि और विरति; ये मोक्ष के साधन हैं[5]।

१—तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं, अभयं विदित्ता, तं जो णो करए एसोवरए, एत्थोवरए एस अणगारे ति पवुच्चइ—

—आचारांग १-१-५

२—सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहिअं। —सूत्र कृतांग १-३-४

३—प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमाव्रियते। यैस्ते प्रत्याख्यानावरणाः। आह च—

सर्वसावद्यविरति-प्रत्याख्यानमुदाहृतम्। तदावरणसंज्ञातस्तृतीयेषु निवेशिता॥

—प्रज्ञापना पद २३

४—सर्वप्रत्याख्यानं देसप्रत्याख्यानं च येषामुदयेन लभ्यते, ते भवन्त्यप्रत्याख्यानाः सर्वे, निषेध वचनीयं नञ्, उक्तञ्च—

स्वल्पमपि नो सहेद्येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसंज्ञातो, द्वितीयेषु निवेशिता॥

—प्रज्ञापना पद २३

५—णाणं च दंसणं चेव। —उत्तराध्ययन २८।२

निर्जरा मोक्ष का साधन है पर केवल निर्जरा से मुक्ति नहीं होती, दृष्टि भी सम्यक् होनी चाहिए। चारित्र के बिना इन दोनों से भी मुक्ति नहीं होती। तीनों-सम्यग् दृष्टि, निर्जरा और चारित्र—विरति एक साथ होते हैं, तब आत्मा कर्म मुक्त होती है। जो मुनि कैवल्य प्राप्त नहीं करता, वह मुक्त नहीं बनता। जो सर्वविरति नहीं बनता, वह वीतराग नहीं बनता। जो वीतराग नहीं बनता, वह कैवल्य प्राप्त नहीं करता। इसलिए सब मुनि मुक्त नहीं होते। किन्तु जो मुनि व्रत-पालन करते-करते वीतराग बन केवली बन जाते हैं, वे ही मुक्त होते हैं।

घर में रहते हुए बहुत सारे आरम्भ-समारम्भ (हिंसा आदि कार्य) करने पड़ते हैं, इसलिए उस दशा में सर्व-विरति हो नहीं सकती। आरम्भ-हिंसा करता हुआ जीव मुक्त नहीं बनता[1]। गृहस्थ जितना त्याग करता है उसकी उतनी ही विरति होती है, शेष अविरति होती है।

जो कुछ भी त्याग नहीं करता, वह अविरत होता है। इसके आधार पर तीन पक्ष बनते हैं :—

१—अधर्म पक्ष।

२—धर्म पक्ष।

३—धर्म-अधर्म, पक्ष।

सर्वथा विरति होती है वह अधर्म पक्ष है, सर्वथा विरति होती है वह धर्म पक्ष है, कुछ विरति और कुछ अविरति होती है, वह धर्म-अधर्म पक्ष है[2]। अधर्म पक्ष हिंसा का स्थान है। धर्म पक्ष अहिंसा का स्थान है। धर्म-अधर्म पक्ष अहिंसा और हिंसा का स्थान है[3]।

१—से जीवे आरंभइ, सारंभइ······तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति।

—भगवती ३।३

२—एस ठाणे···अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए।

एस ठाणे आरिए···धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए।

जे इमे भवंति···मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए।

—सूत्रकृतांग २।२।३२।३४

३—तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई···एगंतसम्मे साहू। —सूत्रकृतांग २।२।३९

हिंसा जीवन की परवशता

अहिंसा में मैत्री है, सद्‌भावना है, सौहार्द है, एकता है, सुख और शान्ति है। अहिंसा का स्वरूप है उपशम मृदुता-सरलता, सन्तोष, अनासक्ति और अद्वेष। अहिंसा हमारे मन में है, वाणी में है और कार्यों में है; यदि इनके द्वारा हम न किन्हीं दूसरों को सताते हैं और न अपने आपको। अहिंसा हमारी स्वाभाविक क्रिया है। हिंसा हमारे स्वभाव के प्रतिकूल है। हिंसा में मनुष्य को परवशता का भान होना चाहिए। बिना खाए, बिना पीए, बिना कुछ किए शरीर चल नहीं सकता। शरीर के सामर्थ्य के बिना खाने-पीने का साधन नहीं जुटाया जा सकता। इस प्रकार की क्रमबद्ध शृंखलाओं की अनिवार्य प्रेरणाओं से मनुष्य व्यापार करता है। धन का अर्जन करता है। उसकी रक्षा करता है। उपभोग करता है। चोर लुटेरों से अपने स्वत्व को बचाता है। दण्ड-प्रहार करता है। शासन-व्यवस्था करता है और अपने विरोधियों से लोहा लेता है। यह सब हिंसा है। पूर्ण आत्म-संयम के बिना सब प्रकार की हिंसाओं को नहीं त्यागा जा सकता और सब प्रकार की हिंसाओं को त्यागने के पश्चात् ये सब काम नहीं किये जा सकते। कितनी जटिल समस्या है—अहिंसा और हिंसा के बीच। हिंसा के बिना गृहस्थ जी नहीं सकता और अहिंसा के बिना वह मानवीय गुणों को नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति में बहुधा विचार-शक्तियां उलझ जाती हैं और अहिंसा का मार्ग कठोर प्रतीत होने लगता है। जैन आचार्यों ने मनोवैज्ञानिक तरीकों से मानसिक विचारों का अध्ययन किया उनकी गहरी छानबीन की और तत्पचात् एक तीसरे हिंसा और अहिंसा के बीच के मार्ग (मध्यम मार्ग) का निरूपण किया। यह मार्ग यथाशक्य अहिंसा के स्वीकार का है। जैन दर्शन के अनुसार उसका नाम अहिंसा-अणुव्रत है।

गृहस्थ खाने के लिए भोजन पकाते हैं, पानी पीते हैं, रहने के लिए मकान बनवाते हैं, पहिनने-ओढ़ने के लिए कपड़े बनवाते हैं—यह 'आरंभी हिंसा' है। खेती करते हैं—कल कारखाने चलाते हैं, व्यापार करते हैं—'उद्योगी हिंसा' है। राष्ट्र, जनता एवं कुटुम्ब की रक्षा करते हैं, आततायियों से लड़ते हैं, अपने आश्रितों को आपत्तियों से बचाते हैं, छल-बल आदि सम्भव उपायों का

प्रयोग करते हैं—यह 'विरोधी हिंसा' है। द्वेषवश या लोभवश दूसरों पर आक्रमण करते हैं, बिना प्रयोजन किसी को सताते हैं, दूसरों का स्वत्व छीनते हैं, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए मनमाना प्राणवध करते हैं, वृत्तियों को उच्छृंखल करते हैं—यह 'संकल्पी-हिंसा' है। इस प्रकार हिंसाके चार प्रमुख वर्ग किये गए हैं। गृह-त्यागी मुनि इन चारों प्रकार की हिंसाओं को त्यागते हैं, अन्यथा वे मुनि नहीं हो सकते। गृहस्थ पहली तीन प्रकार की हिंसाओं को पूर्ण रूप से नहीं त्याग सकते तथापि यथासम्भव इनको त्यागना चाहिए। व्यापारादि करने में मनुष्य का सीधा उद्देश्य हिंसा करने का नहीं, कार्य करने का होता है, हिंसा हो जाती है। संकल्पी हिंसा का सीधा उद्देश्य हिंसा का होता है, कार्य करने का नहीं। दूसरों के सुख, शान्ति हित और अधिकारों को कुचलने वाले कार्य भी बहुधा संकल्पी हिंसा जैसे बन जाते हैं। अतः सामूहिक न्याय नीति की व्यवस्था का उल्लंघन करना भी सबल हिंसा का साधन है। संकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिए भी सर्वथा वर्जनीय है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होने वाली हिंसा का असर व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नहीं। किन्तु संकल्पी हिंसा का अभिशाप समूचे राष्ट्र और समाज को भोगना पड़ता है।

चौथा अध्याय

अहिंसा का राजपथ : एक और अखण्ड

अहिंसा आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा है। वह एक और अखण्ड है। किन्तु मोह के द्वारा वह ढकी रहती है। मोह का जितना नाश होता है, उतना ही उसका विकास। इस मोह-विलय के तारतम्य पर उसके दो रूप निश्चित किये गए हैं—

(१) अहिंसा—महाव्रत।

(२) अहिंसा—अणुव्रत।

इनमें स्वरूप-भेद नहीं; मात्रा (परिमाण) का भेद है।

मुनि की अहिंसा पूर्ण है, इस दशा में श्रावक की अहिंसा अपूर्ण। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरण के रूप में मुनि की अहिंसा बीस बिस्वा है और श्रावक की सवा बिस्वा। इसका कारण यह है कि श्रावक त्रस जीवों की हिंसा को छोड़ सकता है, बादर-स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है—दस बिस्वा रह जाता है। इसमें भी श्रावक त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है, आरम्भजा हिंसा का नहीं। अतः इसका परिमाण उससे भी आधा अर्थात् ५ बिस्वा रह जाता है। इरादेपूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रस जीवों की त्यागी जाती है, जो निरपराध है। सापराध त्रस जीवों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकता, इससे वह अहिंसा अढाई बिस्वा रह जाती है। निरपराध त्रस जीवों की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है, सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक (धर्मोपासक या व्रती गृहस्थ) की अहिंसा का परिमाण सवा बिस्वा रह जाता है। एक प्राचीन गाथा में इसे संक्षेप में कहा है—"जीवा सुहुमाथूला, संकप्पा, आरम्भा भवे दुविहा। सावराह निरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा ॥"

(१) सूक्ष्म जीव-हिंसा।

(२) स्थूल जीव-हिंसा।

(३) संकल्प हिंसा।

(४) आरम्भ हिंसा।

(५) सापराध हिंसा।

(६) निरपराध हिंसा।

(७) सापेक्ष हिंसा।

(८) निरपेक्ष हिंसा।

हिंसा के आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमें से चार प्रकार की (२,३, ६,८) हिंसा का त्याग करता है। अतः श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है।

स्थावर-जीव-अहिंसा

स्थावर जीव दो प्रकार के होते हैं :—

(१) सूक्ष्म

(२) बादर

सूक्ष्म स्थावर इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे किसी के योग से नहीं मरते। अतएव उनकी हिंसा का त्याग श्रावक को अवश्य कर देना चाहिए। श्रावक बादर स्थावर जीवों की सार्थ (अर्थ सहित) हिंसा का त्याग कर नहीं सकता। गृह-वास में इस प्रकार की सूक्ष्म हिंसा का प्रतिषेध अशक्य है। शरीर, कुटुम्ब आदि के निर्वाहार्थ श्रावक को यह करनी पड़ती है। तथापि इनकी निरर्थक हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिए।

"निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसा - धर्मज्ञः, कांक्षन्मोक्षमुपासकः॥"

अर्थात्—मोक्षाभिलाषी अहिंसा-मर्मज्ञ श्रावक को स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा का धर्म सावधानी में है, विभ्रान्ति में नहीं।

गृहस्थ का कार्य-क्षेत्र

जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थ के विचारों का केन्द्र मुनि की तरह केवल धार्मिक क्षेत्र ही नहीं है। राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी उसकी गति अबाध होती है। उसकी मर्यादा का उचित ध्यान रखे बिना उसके गृहस्थ-सम्बन्धी औचित्य का निर्वाह नहीं हो सकता। अतः गृहस्थ के कार्य-क्षेत्र

हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों हैं। वर्तमान के राजनैतिक वातावरण में अहिंसा को पल्लवित करने की चेष्टा की जा रही है। यह कोई नई बात नहीं। अहिंसा का प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है। उसका क्षेत्र कोई पृथक्-पृथक् निर्वाचित नहीं, सर्वथा स्वतंत्र है। सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति में उसका एकाधिकार आधिपत्य है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में भी अहिंसा प्रयोज्य है खाने-पीने में भी अहिंसा का खयाल रखना लाभप्रद है। पर हिंसा और अहिंसा का विवेक यथावत् होना चाहिए अन्यथा दोनों का समिश्रण लाभ के बदले हानिकारक हो जाता है।

भगवान् महावीर का श्रावक महाराज चेटक वैशाली गणतंत्र का प्रधान था। वह अहिंसा-व्रती था। निरपराध जीवों के प्रति उसकी भावना में दया का प्रवाह था। यह तो श्रावकत्व का सूचक है ही, किन्तु सापराध प्राणी भी उसके सफल बाण से एक दिन में एक से अधिक मृत्यु का आलिंगन नहीं कर पाते थे। युद्ध में भी उसे प्रति दिन एक बाण से अधिक प्रहार करने का त्याग था। इतना मनोबल सर्व साधारण में हो सकता है, यह सम्भव नहीं। व्रत-विधान सर्व साधारण को अहिंसा की ओर प्रेरित करने के लिए है। अतः इसका विधान सार्वजनिकता के दृष्टिकोण से सर्वथा समुचित है। इसमें अहिंसा का परिमाण यह बताया गया है कि श्रावक निरपराध त्रस प्राणी (न केवल मनुष्य) को मारने की बुद्धि से नहीं मारता। यह अहिंसा का मध्यम-मार्ग है। गृहस्थ के लिए उपयोगी है। इसमें न तो गृहस्थ के औचित्य-संरक्षण में भी बाधा आती है और न व्यर्थ हिंसा करने की वृत्ति भी बढ़ती है। यदि हिंसा का बिल्कुल त्याग न करे तो मनुष्य राक्षस बन जाता है और यदि वह हिंसा को सर्वथा त्याग दे तो गृहस्थपन नहीं चल सकता। इस स्थिति में यह मध्यम मार्ग श्रावक के लिए अधिक श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ इस हद के उपरान्त हिंसा का त्याग कर ही नहीं सकता। यदि किसी गृहस्थ में अधिक साहस हो, अधिक मनोबल हो तो वह सापराध और निरपराध दोनों की हिंसा का त्याग कर सकता है। पर सर्व साधारण में कहाँ इतना मनोबल, कहाँ इतना धैर्य और साहस कि वह अपराधी को भी क्षमा कर सके? हिंसक बल के सामने अपने भौतिक अधिकारों

की रक्षा कर सके ? नीति-भ्रष्ट लोगों से अपने स्वत्व को बचा सके ? अहिंसा का प्रयोग प्रधानतः आत्मा की शुद्धि के लिए है। राज्य आदि कार्यों में हिंसा से जितना बचाव हो सके, उतना बचाव करे, यह राजनीति में अहिंसा का प्रयोग है। किन्तु जो बल आदि का व्यवहार होता है, वह हिंसा ही है।

अहिंसा और हिंसा की निर्णायक दृष्टियाँ

प्राणी मात्र का जीवन सक्रिय होता है। क्रिया अच्छी हो चाहे बुरी, उसका प्रवाह रुकता नहीं उसकी अच्छाई या बुराई का मान-दण्ड भी एक नहीं है। जन-साधारण की और धार्मिकों की परिभाषा में मौलिक भेद रहता है, कारण कि जन-साधारण का दृष्टिकोण लौकिक होता है और धार्मिकों का दृष्किोण आध्यात्मिक। लोक-दृष्टि से किसी भी क्रिया को नितान्त अच्छी या बुरी कहना एक मात्र दुःसाहस है। जन-साधारण की रुचि एवं अरुचि पर नियंत्रण करना शक्ति से परे है। 'विभिन्न-रुचयो लोकाः'—यह सिद्धान्त तथ्यहीन नहीं है। लोक-मत में परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव का आवेग होता है। उसके अनुसार रुचि अरुचि में भी परिवर्तन आ जाता है। सामान्य स्थिति में प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना धर्म माना जाता है। युद्ध-काल में शत्रुओं की हत्या करना परम धर्म माना जाता है। लोक-रुचि में आपत्ति-काल, स्वार्थ ममत्व. अज्ञान, आवेश, मोह; ऐसे और भी अनगित कारण अहिंसा के स्वरूप विकृति के हेतु बनते हैं। आपत्ति-काल में हिंसा-अहिंसा बन जाती है। मोह होता है और उसे दया का रूप दिया जाता है। अज्ञानवश बहुत सारे लोग हिंसा और अहिंसा का स्वरूप भी नहीं समझ पाते।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण के सामने रुचि एवं अरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता, उसमें वस्तु-स्थिति का अन्वेषण करना होता है। जब अच्छाई और बुराई का मान-दण्ड रुचि-अरुचि नहीं रहता तब हमें उसके लिए एक दूसरा मान-दण्ड तैयार करना पड़ता है। फिर उसके द्वारा हरेक काम की अच्छाई और बुराई को मापते हैं। वह माप-दण्ड है संयम और असंयम। दूसरे शब्दों में कहें तो त्याग और भोग। इसके अनुसार हम संयममय क्रिया को अच्छी कहेंगे और असंयममय क्रिया को बुरी। दार्शनिक पण्डितों के शब्दों में अच्छी क्रिया को असत्-प्रवृत्ति-निरोध और सत्प्रवृत्ति तथा बुरी क्रिया को असत्-प्रवृत्ति

कहना होगा। असत्-प्रवृत्ति का नाम हिंसा है। असत्-प्रवृत्ति के द्वारा प्राण-वध किया जाता है या हो जाता है, वह भी हिंसा है। जैसे—"असत्प्रवृत्त्या प्राण-व्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्ति र्वा[1]।" ऊपर की कुछ पंक्तियों में हिंसा का स्वरूप बताया गया है। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जो असत्-प्रवृति का निरोध है, सत्-प्रवृति है वह अहिंसा है।

वस्तुओं का स्वरूप देखने के लिए जैन आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार—इन दो दृष्टियों का उपयोग किया है। व्यवहार-दृष्टि वस्तु का बाहरी स्वरूप देखती है और निश्चय-दृष्टि उसका आन्तरिक स्वरूप। व्यवहार-दृष्टि में लौकिक व्यवहार की प्रमुखता होती है और निश्चय-दृष्टि में वस्तु-स्थिति की। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार प्राण-वध हिंसा है और प्राण-वध नहीं होता वह अहिंसा है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार असत्-प्रवृत्ति यानी राग-द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति हिंसा है और सत्-प्रवृत्ति अहिंसा। इन (दृष्टियों) के आधार पर हिंसा अहिंसा की चतुर्भंगी बनती है।

जैसे :—

१—द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा।

२—द्रव्य-हिंसा और भाव-अहिंसा।

३—द्रव्य-अहिंसा और भाव-हिंसा।

४—द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा।

राग-द्वेष-वश होने वाला प्राण-वध द्रव्य-हिंसा और भाव हिंसा है। जैसे—एक शिकारी हरिण को मारता है, यह द्रव्य यानि व्यवहार में भी हिंसा है, क्योंकि वह हरिण के प्राण लूटता है और भाव यानी वास्तव में भी हिंसा है, क्योंकि शिकार करने में उसकी प्रवृति असत् होती है। राग-द्वेष के बिना होने वाला प्राण-वध द्रव्य-हिंसा और भाव-अहिंसा है। जैसे—एक संयमी पुरुष सावधानी पूर्वक चलता फिरता है तथा आवश्यक दैहिक क्रियाएं करता है, उसके द्वारा अशक्य परिहार कोटि का प्राण वध हो जाता है, वह व्यवहार में हिंसा है क्योंकि वह प्राणी की मृत्यु का निमित्त बनता है और वास्तव में अहिंसा है-हिंसा नहीं है क्योंकि वहाँ उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषात्मक नहीं होती।

१—जैन सिद्धान्त दीपिका ७।४।५

राग-द्वेष युक्त विचार से अप्राणी पर घात या प्रहार किया जाता है, वह द्रव्य अहिंसा और भाव-हिंसा है। जैसे—कोई व्यक्ति धुंधले प्रकाश में रस्सी को साँप समझ कर उस पर प्रहार करता है, वह व्यवहार में अहिंसा है क्योंकि उस क्रिया में प्राण-वध नहीं होता और निश्चय में हिंसा है, कारण की वहाँ मारने की प्रवृत्ति द्वेषात्मक है। जहाँ न राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति होती है और न प्राण-वध होता है, वह सर्व संवर रूप अवस्था द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा है। यह अवस्था दैहिक और मानस क्रिया से निवृत्त तथा समाधि-प्राप्त योगियों की होती है। भाव-अहिंसा की पूर्णता संयम जीवन में प्राप्त हो जाती है किन्तु द्रव्य-अहिंसा की अवस्था दैहिक चंचलता छूटे बिना, दूसरे शब्दों में समाधि-अवस्था पाए बिना नहीं आती।

प्राणातिपात (प्राण-वध)

आत्मा अमर है। उसकी मृत्यु नहीं होती। यह सर्व साधारण में प्रसिद्ध है पर तत्त्व-दृष्टि से यह चिन्तनीय है। आत्मा एकान्त-नित्य नहीं परिणामि-नित्य है अर्थात् उत्पाद् व्यय सहित नित्य है। केवल आत्मा ही क्या विश्व के समस्त पदार्थों का यही स्वरूप है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता। सभी पदार्थ अपने रूप का त्याग न करने के कारण नित्य हैं और नाना प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होते रहने के कारण अनित्य हैं। या यों कहिए—द्रव्य रूप में सब पदार्थ नित्य हैं और पर्याय रूप में अनित्य। नित्य का फलितार्थ है—अपने रूप को न त्यागना। अनित्य का फलितार्थ है—क्रमशः एक-एक अवस्था को छोड़ते रहना और दूसरी-दूसरी अवस्था को पाते रहना। आत्मा अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती; अतः नित्य है, अमर है और एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर को पाती है—इत्यादि अवस्थाओं से अनित्य है—उसकी मृत्यु होती है। आत्मा की प्राण-शक्तियों का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, उसका नाम जन्म है और उनका शरीर से वियोग होने का नाम मृत्यु है। जन्म और मृत्यु—ये दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं। मृत्यु से आत्मा का अत्यन्त नाश नहीं होता। केवल उसकी अवस्था का परिवर्तन होता है। यथा:—

"जीव जीवे अनादि काल रो,
मरे तिखारी हो पर्याय पलटी जाण[1] ।"

इसलिए शरीर के वियोग होने से आत्मा की मृत्यु कहने में हमें कोई भी संकोच नहीं होना चाहिए। प्राण शक्तियाँ दस हैं :—

१-५—पाँच इन्द्रिय-प्राण
६—मन-प्राण
७—वचन-प्राण
८—काय-प्राण
९—श्वासोच्छ्वास-प्राण
१०—आयुष्य-प्राण

निष्काम कर्म और अहिंसा

अहिंसा के सम्बन्ध में निष्काम कर्म एक व्यामोहक वस्तु बन रहा है। कितनेक व्यक्तियों का खयाल है कि फल-प्राप्ति की आशा रखे बिना हम जो कोई काम करते हैं, वह अहिंसा ही है। पर सच तो यह है कि चाहे कार्य निष्काम फल-प्राप्ति की इच्छा रहित हो, चाहे सकाम—फल-प्राप्ति की इच्छा सहित जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिंसा छिपी हुई रहती है, वह काम हिंसात्मक ही है। यह क्या कोई युक्ति की बात है कि मनुष्य अपनी सुविधा के लिए जो कोई भी हिंसायुक्त कार्य करता है, वह तो हिंसात्मक मान लिया जाता है और वही काम वही मनुष्य यदि दूसरों की सुविधा के लिए करता है, वह अहिंसात्मक हो जाता है। हिंसात्मक काम हिंसात्मक ही रहेगा, चाहे वह अपने लिए किया जाए या दूसरों के लिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिगत कार्यों में स्वार्थ रहता है और समष्टि में स्वार्थ नहीं रहता। खैर, दो क्षण के लिए स्वार्थ न भी मानें अर्थात् लौकिक दृष्टि से परमार्थ मान लें तो भी इसका हल नहीं निकलता। क्योंकि हिंसा का सम्बन्ध केवल स्वार्थ से ही तो नहीं; राग, द्वेष, मोह, व्यामोह आदि अनेक भावनाओं से उसका सम्बन्ध रहता है। जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागकर अपने राष्ट्र की स्थिति को

[1]—श्री भिक्षु स्वामी।

अनुकूल बनाने के लिए कोई यह उचित समझे कि जितने बच्चे जन्मते हैं, उनमें से आधे मरवा दिये जाए। राष्ट्र के सुधार की ऐसी भावना से वह ऐसा करने में सफल भी हो जाता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उक्त कार्य न तो राग से किया जाता है और न द्वेष से एवं न व्यक्तिगत स्वार्थ से। वह केवल राष्ट्र को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करने के लिए ही किया जाता है, इसलिए यह सब निष्काम सेवा की परिधि में आ जाता है। इस प्रकार और भी अनेक कार्य हैं जो कि समष्टि की सुविधाओं के लिए किये जाते हैं और उन्हें निष्कामता की सीमा में घुसेड़कर अहिंसात्मक बतलाया जाता है परन्तु जिन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा एवं हिंसा के कारण विद्यमान हैं वे काम न तो निष्कामता की कोटि में समाविष्ट किये जा सकते हैं और न अहिंसा की कोटि में।

जैन सिद्धान्तों में भी निष्कामता का विधान है पर है वह धार्मिक क्रिया के सम्बन्ध में। धार्मिक क्रिया का जितना उपदेश है, उसके साथ-साथ यह बताया गया है कि धर्म केवल आत्म-शुद्धि के लिए करो। ऐहिक या पारलौकिक पौद्गलिक सुखों के लिए नहीं। धार्मिक क्रिया के साथ पौद्गलिक सुखों की इच्छा करना 'निदान' नाम का दोष है। इस सम्बन्ध में यह एक खास ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष में राग, द्वेष, स्वार्थ आदि भावनाओं से मिश्रित जितने भी काम हैं; उनको अधिक आसक्ति या कम आसक्ति से किये जाने से उससे होने वाले बन्धन में अन्तर अवश्य आ जाता है पर वे बन्धन से मुक्त करने वाले नहीं हो सकते। जैसे—एक हिंसात्मक काम को दो व्यक्ति करते हैं। एक उसे अधिक आसक्ति से करता है और दूसरा उसे कम आसक्ति से। अधिक आसक्ति से करने वाले के कर्म का बन्धन दृढ़ होता है और कम आसक्ति से करने वाले के शिथिल। पर यह नहीं हो सकता कि कम आसक्ति से हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें कर्म का बन्ध होता ही नहीं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह निर्णय होता है कि जो काम हम करते हैं, वह यदि पूर्वोक्त भावनाओं से मिश्रित है तो उसमें आसक्ति रहेगी ही—चाहे अधिक मात्रा में, चाहे कम मात्रा में, चाहे व्यक्त रूप में, चाहे अव्यक्त रूप में।

अधिक आसक्ति वाला अहं भावना से लिप्त रहता है और वह उससे मुड़ना भी नहीं चाहता। किन्तु कम आसक्ति वाला यह समझता है कि मैं जो कुछ भौतिक सुखवर्धक काम करता हूँ, वह मुझे करना पड़ता है क्योंकि मैं अभी तक बन्धन से छुटकारा नहीं पा सका हूँ। इसका तत्त्व यही है कि जो कार्य असंयम को पुष्ट करने वाला अर्थात् भोगी जीवन का सहायक है, वह चाहे कैसी भी भावना से क्यों न किया जाए, उसमें हिंसा तो रहेगी ही। भोगी जीवन का अर्थ सिर्फ अब्रह्मचारी जीवन ही नहीं है। जो मनुष्य अपने शरीर को सुख देने के लिए या उसे टिकाये रखने के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा करता है, उसका जीवन-भोगी-जीवन कहलाता है। अतः यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि निष्कामता का सम्बन्ध अहिंसात्मक कार्यों से ही है। हिंसात्मक कार्यों में निष्कामता का प्रयोग नहीं हो सकता। निष्कामता अहिंसा की उपासना करने का साधन है। अहिंसा का अनुशीलन किसी प्रकार के भौतिक सुखों के फल की आशा रखे बिना ही करना चाहिए। यही निष्कामता का सच्चा प्रयोग है।

अहिंसा के फलितार्थ

(१) अहिंसा का अर्थ प्राणों का विच्छेद न करना—इतना ही नहीं, उसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना।

(२) जीव नहीं मरे, बच गए - यह व्यावहारिक अहिंसा है, अहिंसा का प्रासंगिक परिणाम है। हिंसा के दोष से हिंसक की आत्मा बची—यह वास्तविक अहिंसा है।

(३) हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध हिंसक और अहिंसक से होता है, मारे जाने वाले और न मारे जाने वाले प्राणी से नहीं।

(४) निवृत्ति अहिंसा है।

(५) प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, उनमें जो राग-द्वेष रहित होती है, वह अहिंसा और राग-द्वेष सहित होती है, वह हिंसा है। दूसरे सजीव या निर्जीव पदार्थ केवल अहिंसा के निमित्तमात्र बनते हैं। इसके आधार पर ही हिंसा के द्रव्य भाव-रूप भेद किये हैं। द्रव्य-हिंसा का अर्थ है—केवल प्राणों का

वियोग होना। भाव-हिंसा का अर्थ है—आत्मा के अशुभ परिणाम यानी राग-द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति।

क्योंकि हिंसा की परिभाषा में प्राण-वियोजन का स्थान व्यावहारिक और राग-द्वेष युक्त भावना का स्थान नैश्चयिक है। हिंसक वही कहा जा सकता है, जो रागादि दोष सहित प्रवृत्ति से प्राणों का विच्छेद करता है, कष्ट पहुँचाता है या निर्जीव पदार्थों पर भी अपनी प्रमादात्मक प्रवृत्ति करता है। जहाँ प्राणियों की घात होती है, वहाँ राग-द्वेष-रहित भावना कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का निर्णय हमें यों कर लेना चाहिए कि उन संयमी? पुरुषों की न तो जीव हिंसा की भावना ही है और न वे इस प्रकार की क्रिया ही करते हैं तथापि देहधारी होने के कारण उनके द्वारा जो हिंसा हो जाती है, वहाँ उनकी भावना का राग-द्वेष से कोई सम्बन्ध नहीं है[1]।

प्रश्न—उक्त निर्णय से नई और जटिल समस्या पैदा होती है, वह यह है कि इस सिद्धान्त से प्रत्येक मनुष्य भी हिंसा करता हुआ अपने को अहिंसक कहने का साहस कर सकेगा। क्योंकि उसके पास 'मेरी भावना शुद्ध है'—यह एक अमोघ साधन आ जाता है।

उत्तर—उक्त निर्णय प्राणी मात्र के लिए चरितार्थ नहीं, यह केवल संयमी पुरुषों पर ही लागू होता है। वे अहिंसा के उपासक हैं, उनका एक मात्र ध्येय अहिंसा है। वे हिंसा से सर्वथा पराङ्मुख रहते हैं। इनसे भिन्न जो असंयमी पुरुष हैं उनके लिए उपर्युक्त निर्णय ठीक नहीं। क्योंकि न इनके मन, वचन एवं शरीर संयत हैं और न हिंसक-प्रवृत्तियों से सर्वदा विमुख रहने का उन्होंने निश्चय ही किया है। वे हिंसा में जुटे हुए हैं अतएव उनके द्वार जो प्राणी वध होता है या किया जाता है वह हिंसा ही है; अहिंसा नहीं।

प्रश्न—संयमी पुरुषों के लिए जो विधान किया जाता है, क्या उससे उनमें शिथिलता की सम्भावना नहीं?

१—संयमी उसे कहते हैं, जिसने मन, वचन और शरीर का संयम किया है, त्रस-स्थावर—सब प्रकार के जीवों की हिंसा करने का परित्याग किया है। जो अपने खाने-पीने के लिए भी हिंसा नहीं करता है, प्राणीमात्र को मित्र समझता है एवं सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह व्रत को पालता है।

उत्तर—नहीं। क्योंकि संयमी पुरुष भी असावधानी से जो कुछ करते हैं, वह सब हिंसा है। इस दृष्टि से वे और अधिक सावधान रहते हैं। अहिंसक होने पर भी हम कहीं हिंसक न बन जाएं—इसका उन्हें हर समय खयाल रहता है। सहज ही एक प्रश्न हो सकता है कि संयमी जन भी सब वीतराग नहीं होते तो फिर उनकी भावना राग-रहित कैसे मानी जा सकेगी? इसका उत्तर है—'सतोऽपि कषायान् निगृह्णाति सोऽपि' तत्तुल्य;'—कषाय-सहित होते हुए भी वे संयमी जन कषाय का निग्रह कर संयत-प्रवृत्तियों से अहिंसक बन सकते हैं।

(६) अहिंसा का सम्बन्ध जीवित रहने से नहीं, उसका सम्बन्ध तो दुष्प्रवृत्ति की निवृत्ति से है। निवृत्ति एकान्त रूप से अहिंसा है—यह तो निर्विवाद विषय है पर राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि दोषों रहित प्रवृत्ति भी अहिंसात्मक है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में एक वर्णन है—

शिष्य—"प्रभो! कृपा करके आप बताएं कि हम कैसे चलें, कैसे खड़े हो, किस तरह बैठें, किस प्रकार लेटें, कैसे खायें और किस तरह बोलें, जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो[1]।"

गुरु—"आयुष्मन्! यत्नापूर्वक चलने से, यत्नापूर्वक खड़े होने से, यत्नापूर्वक बैठने से, यत्नापूर्वक लेटने से, यत्नापूर्वक भोजन करने से और यत्नापूर्वक बोलने से पाप बन्ध नहीं होता[2]।

सारांश यह है कि सत्पुरुषों का खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना आदि जीवन-क्रियाएं, जो अहिंसा-पालन की दृष्टि से सजगतया की जाती हैं; वे सब अहिंसात्मक ही हैं।

(७) अहिंसा त्याग में है, भोग में नहीं। अहिंसा आत्मा का गुण है अहिंसा से हमारा कल्याण इसलिए होता है कि वह हमें हिंसा के पाप से बचाती है और हमारा कल्याण वहीं है कि हम हमारी असत् प्रवृति के द्वारा

१—कहं चरे कहं चिट्ठ, कहमासे, कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥ दशवैकालिक ४।७

२—जयं चरे, जयं चिट्ठ, जय मासे, जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई॥—दशवैकालिक ४।८

किसी को भी कष्ट नहीं पहुंचाएं और न मारें। हम नहीं मारते हैं, वह अहिंसा है किन्तु हमारी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के द्वारा जो जीव जीवित रहते हैं, वह अहिंसा नहीं।

चोर चोरी नहीं करता, वह उसका गुण है किन्तु चोर के चोरी न करने से जो धन सुरक्षित रहता है, वह उसका गुण नहीं है। एक व्यक्ति अपनी आशाओं को सीमित करता है अथवा उपवास करता है, उसे उपवास करने का लाभ होता है परन्तु उसके उपवास करने से जो खाद्य पदार्थ बचे रहते हैं, उनसे उसकी कोई आत्मा शुद्धि नहीं होती।

राग-द्वेष का स्वरूप

"असंजती जीव को जीवणों वंछे ते राग, मरणों वंछे ते द्वेष, तिरणों वंछे ते श्री वीतराग देव नो धर्म"—भिक्षु स्वामी ने इस त्रिपदी में राग-द्वेष के स्वरूप का निरूपण एवं मध्यस्थ-भावना से धर्म का सम्बन्ध दिखाया है।

असंयम—हिंसा की अविरति और परिणति असयम है।

संयम—हिंसा की विरति और आत्मरूप में परिणति संयम है।

जो हिंसा की विरति भी न करे और उसकी परिणति भी न छोड़े, वह असंयमी है। स्थूल दृष्टि से हिंसक वह होता है जो किसी को मारे, और तब होता है जब मारे, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि में एक व्यक्ति किसी जीव को अमुक समय में नहीं मारता, फिर भी उसने मारने की विरति नहीं की, वह भी हिंसक है[१]।

जो हिंसक है, हिंसा की अविरति की दृष्टि से या प्रवृत्ति की दृष्टि से, वही असयती है उसका जीवन या शरीर टिका रहे—ऐसी भावना राग है। वह मिट जाए—ऐसी भावना द्वेष है। वह संयमी बने—यह भावना वीतराग का मार्ग है—समता है।

राग-द्वेष जन्म-मृत्यु के कारण हैं, वीतराग-भाव शरीर-मुक्ति का।

१—(क) दसविहे सत्थे पण्णत्ते तंजहा—

सत्थमग्गी विसंलोणं, सिणेहोखार मंबिलं।

दुप्पउत्तोमणोवाया, काउभावोय अविरई॥—स्थानांग १०

(ख) सूक्ष्माणां वधः परिणामाशुद्धत्वात्, तद्विषयनिवृत्त्यभावेन द्रष्टव्यः—

आचारांग-वृत्ति १।१।२

शरीर-मुक्ति की साधना में शरीर टिका रहे या छूट जाए, यह उसकी शर्त नहीं होती। उसकी शर्त होती है—शरीर रहे तो संयम का साधन बनकर रहे और जाए तो संयम की साधना करते-करते जाए। इसीलिए कहा गया है—'असंयमी जीवन और मौत की इच्छा मत करो[1]।'

जो शरीर एकमात्र संयम का साधन बन जाए, जिसका निर्वाह संयम के लिए और संयम की मर्यादा के अनुकूल हो, वैसा शरीर बना रहे। इसमें जीने की इच्छा नहीं किन्तु यह संयम के साधन को बनाए रखने की भावना है।

जो शरीर असंयम का साधन रहते हुए उचित आंशिक संयम का साधन बन जाए, उसका निर्वाह केवल संयम के लिए और संयम की मर्यादा के अनुकूल नहीं होता, इसलिए 'वैसा शरीर बना रहे'—यह भावना संयम-मार्ग की नहीं हो सकती। "वह न रहे"—यह भी नहीं हो सकती कारण कि मरने से क्या होगा? संयम न जीने से आता है और न मरने से। वह मोह का त्याग करने से आता है, इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—"समूचे संसार को समता की दृष्टि से देखने वाला न किसी का प्रिय करे और न किसी का अप्रिय[2]।"

कोई व्यक्ति जीवित रहे, तब संयम साध सके। वह जीता ही न रहे तो संयम कौन साधे? इस पर से जीने की साधना भी संयम की मर्यादा के अन्तर्गत होनी चाहिए—ऐसा आभास होता है किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। जीने की वही साधना संयममय हो सकती है, जो संयम के लिए और संयम की मर्यादा के अनुकूल हो।

संयम के व्यवहित या दूरवर्ती साधन के संयममय होने का नियम नहीं

१—(क) जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए।

ते धीरा बन्धणुम्मुक्का नावकंखंति जीविअं॥ —सूत्रकृतांग १।३।४।१५

(ख) ओर्य न कुज्जा इह जीवियट्ठी। —सूत्रकृतांग १।१०।३

(ग) णो जीवियं णो मरणाभिकंखी चरेज्ज भिक्खु वलया विमुक्के।

—सूत्रकृतांग १।१०।२४

२—सव्वं जगं तु समयाणुपेही,

पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा। —सूत्रकृतांग १।१०।७

बनता। जैन आचार्यों ने सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग) को इसलिए प्रमाण नहीं माना कि वह पदार्थ-निर्णय का व्यवहित साधन है[1]। साधकतम साधन का ही साध्य के अनुरूप होने का नियम हो सकता है, सामान्य साधन का नहीं। वास्तव में साधन वही होता है, जो साधकतम हो यानी अनन्तर हो—साध्य और उसके बीच में कोई अन्तर न हो। परस्पर साधनों की शृंखला इतनी लम्बी होती है कि उसका कहीं अन्त भी नहीं आता। उदाहरण के रूप में—संयम के लिए शरीर, शरीर के लिए खान-पान, खान-पान के लिए व्यापार, व्यापार के लिए पूंजी, पूंजी के लिए संग्रह-वृत्ति, संग्रह वृति के लिए आत्मा का विकार—इस प्रकार क्रम आगे बढ़ता जाता है। समस्या आती है—इनमें से किसे संयम का साधन माना जाए? आत्म-विकार को या संग्रह-वृति को? पूंजी को या व्यापार को? खान-पान को या शरीर को? इनमें से एक भी संयम का स्वयंभूत साधन नहीं है। साधन के लिए निम्नाङ्कित अपेक्षाएं होती हैं:—

१—जिसकी प्रवृत्ति के बिना जो न बन सके और

२—जिसकी प्रवृत्ति होने पर जो अवश्य बने।

शरीर के बिना संयम की साधना नहीं की जा सकती, इसलिए पहला अंश मिलता है किन्तु शरीर की प्रवृत्ति होने पर संयम हो—यह दूसरा अंश नहीं मिलता, इसलिए शरीर निरन्तर संयम का साधन नहीं रहता। शरीर प्रवर्तक आत्मा है। उसके राग-द्वेष रहित अध्यवसाय से जब शरीर प्रवृत्त होता है, तभी वह संयम का साधन बनता है। जो शरीर संयम का नैरन्तरिक साधन नहीं बना, उसके खान-पान आदि इस दृष्टि से संयममय माने जाएं कि वह आगे जाकर संयमी बनेगा, यह तर्क-संगत नहीं बनता। इसलिए संयम का अनन्तर साधन मोह कर्म का विलय ही है। उसके सहचरित जो संयम की प्रवृत्ति होती है, वह समता है और जो मोह के उदय से सहचरित होती है, वह प्रिय हो तो राग और अप्रिय हो तो द्वेष।

जीवन और मृत्यु संसार-परिक्रमा के दो अनिवार्य अंग हैं ये दोनों कर्म-

---

१—न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यं, तस्यार्थान्तरस्यैव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ॥ —प्रमाणनयतत्त्वालोक १।४।

बंधन के परिणाम हैं। इनमें अच्छाई या बुराई कुछ भी नहीं है। ये अपने आप में राग-द्वेष भी नहीं हैं, किन्तु ये प्राणियों की अन्तर-वृत्तियों के प्रतीक हैं। जीवन प्रियता का और मृत्यु अप्रियता का प्रतीक है। कहीं जीवन के लिए द्वेष और मृत्यु के लिए राग भी बन सकता है। किन्तु जीने की इच्छा राग और मृत्यु की इच्छा द्वेष—ये लाक्षणिक हैं। इनका तात्पर्य है—प्रियता की इच्छा राग और अप्रियता की इच्छा द्वेष और प्रिय-अप्रिय-निरपेक्ष संयम की भावना—वीतराग भाव।

असंयमी जीवन की इच्छा करने के मुख्यतया तीन कारण हो सकते हैं—स्वार्थ, मोह और अज्ञान। यों तो असंयमी जीवन की वह मनुष्य इच्छा करता है, जिसका असंयत पुरुषों के द्वारा कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वार्थ सिद्ध होता हो, या उसे वह मनुष्य चाहता है जिसका असंयत व्यक्तियों के साथ प्रेम-बन्धन हो या जो व्यक्ति तत्त्व की गम्भीरता तक नहीं पहुँचता। केवल भौतिक सुखों को सुख मानता है, वह असंयमी जीवन को चाहता है। जैसे स्वार्थ और मोह स्पष्टतया राग हैं, वैसे ही यह अज्ञान भी मोह का निविड़ रूप है अतः यह भी राग है। जीवित रहना ही धर्म है—यह भ्रान्त धारणा मोहवशवर्ती मनुष्य के ही होती है। असंयत जीवों की मरने की इच्छा करने का कारण उद्वेग या विरोधी भावना है। वह तो द्वेष है ही। संयमी जीवन मृत्यु की इच्छा करना मध्यस्थ भावना है—अहिंसा का अनुमोदन है।

उक्त विवेचन से यह फलित हुआ कि असंयमी जीवन और मृत्यु हिंसायुक्त होने के कारण साधना की दृष्टि से अभिलषणीय नहीं। संयमी जीवन और मृत्यु अहिंसामय होने के कारण वांछनीय हैं। संयमी-जीवन की इच्छा केवल इसीलिए की जानी चाहिए कि संयम की आराधना हो और संयमी मृत्यु की वांछा भी इसी ध्येय से होनी चाहिए कि संयम की आराधना करते हुए प्राणान्त हो। संयमी जीवन में कोई मोह नहीं, केवल संयम की आराधना की भावना है। संयमी मृत्यु में कोई उद्वेग नहीं, केवल असंयत अवस्था में न मरने का लक्ष्य है। अतः ये भावनाएँ राग-द्वेष रहित हैं। इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु रचित कई गाथाओं का अध्ययन उपयुक्त है :—

"जीने और मरने की इच्छा करने में धर्म का अंश भी नहीं। जो मनुष्य मोह-अनुकम्पा करता है, उसके कर्म का वंश बढ़ता है यानी वह कर्म-बंधन की परम्परा से मुक्त नहीं हो सकता[१] ।"

"मोह-अनुकम्पा में राग-द्वेष रहता है। उससे पाँच इन्द्रियों के-शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, प्रमुख भोगों की वृद्धि होती है। अतः वह (मोह-अनुकम्पा) अहिंसा नहीं। इस तत्त्व को अन्तर्-दृष्टि से देखो[२]" ।

"अपने असंयम-जीवन की वांछा करना भी पाप है तो दूसरों के असंयम जीवन की वांछा से कौन सन्ताप को मोल ले? अज्ञानी जीव मरना और जीना वांछते हैं और सुज्ञानी जीव समभाव रखते हैं[३] ।"

"एक व्यक्ति ने अपने को मृत्यु से बचा लिया किसी दूसरे ने उसको सहयोग दिया और किसी तीसरे व्यक्ति ने उसे अच्छा समझा— इन तीनों में मोक्ष कौन जाएगा[४] ?"

"क्योंकि इन तीनों में से किसी के भी अविरति नहीं घटी और विरति के बिना मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। इसका फलितार्थ यह है कि मोक्ष का साधन विरति (आशा-वांछा का त्याग करना) है। जीवित रहना न तो विरति है और न कोई अहिंसात्मक प्रवृत्ति ही। अतएव वहाँ धर्म या अहिंसा नहीं है। करना, करवाना और अनुमोदन करना, ये तीनों एक कोटि में हैं।

१—वांछै मरणो जीवणो, ते धर्म तणो नहीं अंश।
आ अनुकम्पा कियां थकां, बधै कर्म नो वंश॥

२—मोह अनुकम्पा जे करे, तिण में राग नै द्वेष।
भोग बधै इन्द्रियां तणो, अन्तर ऊंडो देख॥ —अनुकंपा चौपई

३—आपणो वंछै तो ही पापो, पर नो कुण घालै संतापो।
मरणो जीवणो वंछै अज्ञानी, समभाव राखै सुज्ञानी॥ —अनुकंपा चौपई

४—पोते बच्चो मरवा थकी, दूजो कियो हो तिण रै जीवण रो उपाय।
तीजो पिण भलो जाणे जीवियां, यां तीनां में हो सिद्ध गति कुण जाय॥

—अनुकंपा चौपई

जबकि अविरति युक्त जीवितव्य अहिंसा नहीं, तब उसे जीवित रहने में सहयोग देना और उसका अनुमोदन करना अहिंसात्मक कैसे हो सकता है[1] ?"

"जो जीने की वांछा करता है, वह संसार में पर्यटन करेगा और जो श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का पालन करता है और जो दूसरों से उनका पालन करवाता है, वह परम पद यानी मोक्ष को प्राप्त करता है[2] ।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सब जीवों को सुख प्रिय है, दुख अप्रिय; इसलिए किसी को न मारना चाहिए और न कष्ट देना चाहिए—यह उपदेश हिंसा-निवृत्ति के लिए है।

'न मारना और कष्ट देना'—यह अपनी आत्मा का संयम है। 'सब जीव जीना चाहते हैं'—यह जीवों की स्वाभाविक मनोवृत्ति का निरूपण है। सब जीव जीना चाहते हैं, इसलिए जीना धर्म है—यह नहीं होता। सब जीव भोग चाहते हैं, इसलिए किसी का भोग मत लूटो। भोग लूटना असंयम है, इसीलिए भोग मत लूटो—यह उपदेश है। इसी प्रकार जीवन लूटना असंयम है इसलिए जीवन मत लूटो—यह उपदेश है। किसी का सुख न लूटना और दुःख न देना—यह संयम है[3] ।

अहिंसा या संयम का मूल आत्मिक अहित का बचाव या आत्म-शुद्धि है। किसी की हत्या से निवृत्त होने का अर्थ उसके जीवन की इच्छा नहीं किन्तु हत्या से होने वाले पाप से बचने की भावना है। जीवन संयममय तभी सम्भव

१—जीवियां जीवायां भलो जाणियां,
ये तीनों ही हो करण सरीखा जाण।
कोई चतुर होसी ते समझसी,
अणसमझ्या करसी हो ताणा ताण॥ —अनुकंपा चौपई

२—छ काया रो वंछै मरणो जीवणो, ते तो रहसी संसार मझार।
ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप भलो, आदरियां आदरायां खेवो पार॥
—अनुकंपा चौपई

३—चउरिंदियाणं जीवा असमारम्भ माणस्स अट्ठ विहे संजमे कज्जति तंजहा—चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवित्ता भवति चक्खुमयेणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति एवं जाव……। स्थानांग ४।४, सूत्र ६१४

है, जब हमें यह भान हो कि दूसरे जीवों की घात करने से अपनी आत्मा की घात होती है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह मान लिया जाए कि राग से जो काम किया जाता है, वह अहिंसात्मक नहीं तो भी वह नियम परिचित व्यक्तियों पर ही लागू हो सकता है, सब जगह नहीं। जो अपरिचित व्यक्ति है, जिसे न तो हम जानते हैं और न वह हमें जानता है, उस अपरिचित असहाय के हम भौतिक पदार्थों द्वारा सहायक बनें, इसमें राग कैसे रह सकता है? इसका उत्तर द्वेष पर दृष्टिपात करते ही हो जाता है। किसी एक अपरिचित विद्वान् की विद्वता पर असहिष्णुता आ जाती है, किसी एक अज्ञात व्यक्ति के सौन्दर्य को देखकर जलन पैदा हो जाती है। क्या वह द्वेष नहीं? यदि है तो अपरिचित से द्वेष कैसे हो सका, जबकि राग नहीं हो सकता? वास्तव में राग-द्वेष का परिचित एवं अपरिचित से सम्बन्ध नहीं है किन्तु उनका जब तक आत्मा में अस्तित्व रहता है, तब तक वे अपने-अपने कारणों के द्वारा प्रगट होते हैं। साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले भलीभांति जानते हैं कि अवीतराग पुरुषों के सामने जिस प्रकार की सामग्री आती है, उसके अनुकूल भाव बनकर वैसा ही रस बन जाता है। शृंगार को उद्दीपन करने वाली सामग्री से शृंगार रस, करुणोद्दीपक सामग्री से करुण—इस प्रकार यथोचित सामग्री से हास्य वीभत्स आदि सब रस बनते हैं। इसी प्रकार राग-द्वेषोद्दीपक सामग्री से राग-द्वेष का प्रादुर्भाव होता है। प्रायः दुखियारी दशा को देखकर स्नेह और अनुचित व्यवहार को देखकर द्वेष पैदा हो जाता है। राग अनादि कालीन बन्धन है, उसका अमित प्राणियों से सम्बन्ध है भौतिक जीवन को पोषण करने की भावना उस बन्धन का ही फल है। प्रत्यक्ष में हमें राग न भी मालूम देता हो पर अप्रत्यक्ष में वह सक्रिय रहता है और वही बाह्य-क्रिया का जनक है। एक कवि ने स्नेह की परिभाषा करते हुए कहा है—

"दर्शने स्पर्शने वापि, भाषणे श्रवणेऽपि वा।
यद् द्रवत्यन्तरंगं, स स्नेह इति कथ्यते॥"

अर्थात् "देखने से, छूने से, बातचीत करने से, सुनने से जो हृदय द्रवित

हो जाता है, उसे स्नेह कहते हैं।" दर्शन और स्पर्शन स्नेह उत्पत्ति के निमित्त बनते हैं—यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

प्रेम, सम्बन्ध और आपसी सहयोग सामाजिक जीवन के आधार-बिन्दु हैं। उन्हें तोड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। विवेचनीय वस्तु है, उनकी कोटि का निर्णय। वही इस त्रिपदी में किया गया है।

अहिंसा और विभिन्न दर्शन

अहिंसा की परिभाषाएँ विभिन्न विचारकों द्वारा विभिन्न भाषाओं में की गई हैं, तब भी उनका तत्त्व एक है। भगवान् महावीर ने कहा है :—

"अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो।"

प्राणी मात्र के प्रति जो संयम है वही (पूर्ण) अहिंसा है।

सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

"पाणे न हाने न च घातयेय,
न चानुमन्या हनतं परेसं।
सव्वेसु भूतेसु निधाय दंडं,
ये थावरा ये च तसंति लोके॥

......"त्रस या स्थावर जीवों को न मारे; न मरावे और न मारने वाले का अनुमोदन करे।"

आयुर्वेद में कहा है :—

"विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि"—

मैं समूचे संसार को मित्र की दृष्टि से देखूँ।

"तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः"

—पातञ्जल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सर्व प्रकार से, सर्व काल में, सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना, उसका नाम अहिंसा है।

गीता में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है :—

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम्।
न हिंस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम्॥[1] १७॥

—ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर—भरा हुआ देखकर हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करता; क्यों कि वह जानता है कि

१—गीता १३।२८

हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है और इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्ण रूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त होता है, यानी उसे इस विश्व के वृहत्तम तत्त्व ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

"कर्मणा मनसा वाचा, सर्व भूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः[१] ॥१८॥

.........मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट नहीं पहुँचाना—इसी को महर्षियों ने अहिंसा कहा है।

महात्माजी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है।

अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव[२]।"

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों को भी आलिंगन करती है[३]।

अहिंसा के पुराने और नये सभी आचार्यों ने यही बताया है कि—कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, वाचा, कर्मणा—प्राणी मात्र को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है। किसी भी आचार्य ने अपनी परिभाषा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा की छूट नहीं दी है और न उनकी हिंसा को अहिंसा बताया है।

इस निर्णय के अनन्तर ही जटिल समस्या यह रहती है कि ऐसी अहिंसा को पालता हुआ मानव जीवित कैसे रह सके? इसके समाधान में विभिन्न विचारधाराएं चल पड़ीं। जैनाचार्यों ने इसका उत्तर यह दिया कि पूर्ण संयम किये बिना कोई भी मानव पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। पूर्ण संयमी के सामने मुख्य प्रश्न अहिंसा है। जीवन-निर्वाह का प्रश्न उसके लिए गौण होता है। उसे शरीर से मोह नहीं होता। शरीर उसे तब तक मान्य है, जब तक कि वह अहिंसा का साधन रहे, अन्यथा उसे शरीर-त्याग करने में कोई भी संकोच नहीं होगा। जैसा कि आचारांग में बताया है—

इह संति गया दविया, णाव कंखंति जीविउं"—

१—कूर्मपुराण ७६।८०।
२—मंगलप्रभात पृ० ८१
३—गान्धी वाणी पृ० ३७

संयमी पुरुष अन्य प्राणियों की हिंसा के द्वारा अपना जीवन चलाना नहीं चाहते।

अपूर्ण संयमी पूर्ण हिंसा से नही बच सकता। अतः उसके लिए हिंसा के दो भेद किये गए हैं :—

१—अर्थ-हिंसा।

२—अनर्थ—हिंसा।

अर्थ—हिंसा यानी जीवन-निर्वाह के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा को न त्याग सके तो भी अनर्थ हिंसा को तो अवश्य त्यागे पर यह नहीं कि अपनी दुर्बलता से हिंसा करनी पड़े और उसे अहिंसा या धर्म समझे।

मश्रूवाला ने अहिंसा के विशुद्ध और व्यवहार्य—ये दो भेद कर व्यवहार्य अहिंसा की परिभाषा करते हुए लिखा है।

"बुराई से रहित और भलाई के अंश से युक्त न्याय, स्वार्थ वृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है। यह आदर्श या शुद्ध अहिंसा नहीं है।"

लोकिक दृष्टि की प्रधानता से जिस प्रकार जैन तार्किकों ने इन्द्रिय-मानस ज्ञान—जो कि वास्तव में परोक्ष है, को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है, वैसे ही उक्त परिभाषा में लोक-प्रियता की रक्षा करते हुए अर्थ-हिंसा को व्यवहार्य अहिंसा का रूप दिया मालूम होता है। क्योंकि लोक-दृष्टि में सब हिंसा या सब स्वार्थ-दृष्टि बुरी नहीं मानी जाती। समाज जिसको अनैतिक मानता है, वही बुरी मानी जाती है। लोक-दृष्टि में हिंसा अनैतिक और अनैतिक कार्य के रूप में बदल जाती है। सामाजिक न्याय और औचित्य की सीमा तक ही हिंसा को नैतिक कार्य का रूप मिलता है तथा अन्याय और अनौचित्य की सीमा में हिंसा अनैतिक हो जाती है। उदाहरण के रूप में—एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की हत्या कर रहा है, उस समय वहाँ एक तीसरा व्यक्ति चला आया उसने आक्रान्ता को समझाया। आक्रान्ता ने उसकी बात नहीं मानी, तब वह उस दुर्बल का पक्ष ले आक्रान्ता के सामने आ गया और उसे (आक्रान्ता को) मार डाला। सामाजिक नीति या व्यवस्था के अनुसार दुर्बल को बचाने वाला हिंसक नहीं माना जाता प्रत्युत उसका वैसा करना कर्तव्य समझा जाता है और दुर्बल की सहायता न करना अनुचित माना जाता है।

धार्मिक सीमा इससे भिन्न है। आक्रान्ता को उपदेश देना धर्म को मान्य है। वह उपदेश न माने; उस स्थिति में उसे मार डालना धार्मिक मर्यादा के अनुकूल नहीं। उपदेशक का काम है—हिंसक की हिंसा छुड़ाना न कि हिंसक की हिंसा को मोल लेना—हिंसक के बदले स्वयं हिंसा करना।

एक प्राणी की रक्षा के लिए दूसरे प्राणी को मारना या कष्ट पहुँचाना अहिंसा की दृष्टि में क्षम्य नहीं।

भगवान् महावीर ने हिंसा करने के कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि—

"अप्पेगे हिंससु मेत्ति वा वहन्ति,
अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहन्ति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहन्ति"। —आचारांग ३-६।

···कितनेक व्यक्ति—इसने मुझे पहले मारा था, इसलिए मारते हैं, कितनेक, यह मुझे मार रहा है, इसलिए मारते हैं और कितनेक, यह मुझे मारेगा, इसलिए मारते हैं, यह सब हिंसा है।

इस प्रकार जितने भी विशुद्ध अहिंसा के विचारक हुए हैं, उन्होंने दूसरों के द्वारा अहिंसा पालन करवाने की सीमा निरवद्य उपदेश को ही बतलाया है।

आत्म-रक्षा

रक्षा का सामान्य अर्थ है बचाना। इससे सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न चार हैं—रक्षा किसकी? किससे? क्यों? और कैसे? प्रत्येक प्रश्न के दो विकल्प बनते हैं:—

(१) रक्षा शरीर की या आत्मा की?

(२) रक्षा कष्ट से या हिंसा से?

(३) रक्षा जीवन को बनाये रखने के लिए या संयम को बनाये रखने के लिए?

(४) रक्षा हिंसात्मक पद्धति से या अहिंसात्मक पद्धति से?

अहिंसात्मक पद्धति द्वारा संयम को बनाये रखने के लिए, हिंसा से आत्मा को बचाने की वृत्ति का नाम है—आत्म-रक्षा।

हिंसात्मक पद्धति द्वारा जीवन को बनाये रखने के लिए कष्ट से बचाव होता है, वह शरीर-रक्षा है।

वास्तव में शरीर-रक्षा और आत्म-रक्षा—ये दोनों लाक्षणिक शब्द हैं। इनका तात्पर्यार्थ है—हिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा विपदा से बचने का प्रयत्न करना शरीर-रक्षा और हिंसा से बचने का प्रयत्न करना आत्म-रक्षा।

साध्य जैसे शुद्ध हो, वैसे साधन भी शुद्ध होने चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए साध्य और साधन दोनों अहिंसात्मक होने चाहिए। थोड़े में यूं कहा जा सकता है—आत्म-रक्षा का अर्थ है—राग-द्वेषात्मक आदि असंयममय वृत्तियों से बचना। इसका साध्य है—आत्म-मुक्ति। इसके साधन हैं :—

१—धार्मिक उपदेश।

२—मौन या उपेक्षा।

३—एकान्त-गमन[1]।

१—'हिंसा करना उचित नहीं'—इस प्रकार हिंसक को समझाना, उसकी हिंसा करने की भावना को बदलने का प्रयत्न करना—धार्मिक उपदेश है।

२—धार्मिक उपदेश द्वारा प्रेरणा देने पर भी वह न समझे तो मौन हो जाना, उसकी उपेक्षा करना—यह दूसरा साधन है।

३—धार्मिक उपदेश काम न करे और मौन न रखा जा सके, उस स्थिति में वहाँ से हटकर एकान्त में चले जाना—यह तीसरा है।

भगवान् महावीर ने हिंसा से बचने के लिए ये तीन साधन बताये हैं।

१—तओ आयरक्खा पन्नत्ता तंजहा-धम्मियाए पडियोयणाए पडियोएत्ता भवइ। तुसीणीओ वा सिया। ओट्ठित्ता वा आयाए एगंत-मवक्कमिज्जा···नवरमात्मानं रागद्वेषादेरकृत्याद् भवकूपाद् वा रक्षन्ति इति आत्म-रक्षा···धार्मिकेणोपदेशेन-नेदं भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता उपदेष्टा भवति अनुकूले तरोपसर्गकारिणः ततोऽसानुपसर्गकारणान्निवर्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवतीत्यतः आत्मा रक्षितो-भवति—इति तूष्णिको वा वाचंयम उपेक्षक इत्यर्थं स्यादिति प्रेरणाया अविषए उपेक्षणा-सामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय··· आत्मना एकान्तं विजनमन्तं भूविभागमवक्रामेत्—गच्छेत्।

—स्थानांगवृत्ति ३।३।७२।

ये तीनों अहिंसात्मक हैं, इसलिए आत्म-रक्षा की मर्यादा के अनुकूल हैं। हिंसात्मक साधनों द्वारा कष्टों से बचाव किया जा सकता है, हिंसा से नहीं।

हिंसक के प्रति हिंसा बरतना, बल-प्रयोग करना, प्रलोभन देना—यह अहिंसा की मर्यादा में नहीं आता। अहिंसा की मर्यादा यह है कि अहिंसक हर स्थिति में अहिंसक ही रहे। वह किसी भी स्थिति में हिंसा की बात न सोचे। अहिंसक पद्धति से हिंसा का विरोध करना अहिंसा-धर्मी का कर्तव्य है। वह अहिंसा के लिए अपने प्राणों तक का त्याग कर सकता है परन्तु अहिंसाके लिए हिंसा का मार्ग नहीं अपना सकता। दोनों प्रकार की रक्षा के आठ विकल्प बनते हैं :—

१—जीवन को बनाये रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

२—संयम को बनाये रखने रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

३—जीवन को बनाये रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

४—संयम को बनाये रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

५—जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

६—संयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

७—जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

८—संयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

इनमें पहले चार विकल्प शरीर-रक्षा के हैं।

उद्देश्य-मीमांसा

जीवन को बनाये रखना—यह अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य है—संयम का विकास करना।

संयम का विकास जीवन-सापेक्ष है। जीवन ही न रहे, तब संयम का विकास कौन करे? अतः संयम का विकास करने के लिए जीवन को

बनाये रखना आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को बनाये रखना भी अहिंसा का उद्देश्य है—यह फलित होता है। यह प्रश्न हो सकता है किन्तु अहिंसा का सीधा सम्बन्ध संयम से है, इसलिए इसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जीवन बना रहे और संयम न हो तो वह अहिंसा नहीं होती। संयम की सुरक्षा में जीवन चला जाए तो भी वह अहिंसा है। आगे के संयम के लिए वर्तमान का असंयम संयम नहीं बनता, आगे की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अहिंसा नहीं बनती। इसलिए जीवन को बनाये रखना, यह अहिंसा का साध्य या उद्देश्य नहीं हो सकता।

साधन-मीमांसा में इतना ही बस होगा कि अहिंसा के साधक हिंसात्मक नहीं हो सकते।

स्वरूप मीमांसा—अहिंसा का स्वरूप है असंयम से बचना, संयम करना। कष्ट संयम हो सकता है और सुख असंयम, इसलिए कष्ट से बचाव करना और सुख प्राप्त करना यह अहिंसा का स्वरूप नहीं बन सकता। उपवास व अनशन जैसी कठोर तपस्याएँ कष्टकर अवश्य हैं, फिर भी अहिंसात्मक हैं। भोगोपभोग सुख है, फिर भी हिंसा है। अहिंसा की दृष्टि संयम की ओर होनी चाहिए। अमुक कष्ट से बचा या नहीं बचा, अहिंसा के लिए यह शर्त नहीं होती। उसकी शर्त है—असंयम से बचा या नहीं। पहले विकल्प के तीनों रूप शरीर-रक्षा की कोटि के हैं।

२—इसमें साध्य सही है। साधना की प्रक्रिया साध्य के प्रति भ्रम उत्पन्न करती है। संयम को बनाये रखने के लिए हिंसात्मक साधन बरते जांए वहाँ संयम नहीं रहता। इसलिए संयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाना मानसिक भ्रम जैसा लगता है।

३—जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य मुख्य होने पर हिंसा से बचाव करने की बात गौण हो जाती है। संयम जीवन से अलग नहीं होता। संयम को बनाए रखने के साथ जीवन का अस्तित्त्व अपने आप आता है। जीवन को बनाए रखने के साथ संयम का अस्तित्व स्वयं नहीं आता है। इसलिए अहिंसा का रूप जीवन के अस्तित्व को प्रधानता नहीं देता। उसमें संयम की प्रधानता होती है।

४—संयम को बनाए रखने के लिए हिंसा से बचाव करना, यह सही है किन्तु हिंसा से कैसे बचा जाए, इसका विवेक होना चाहिए। हिंसा से बचाव करने के लिए हिंसात्मक साधन अपनाए जांए वहाँ न संयम बना रहता और न हिंसा से बचाव होता है। इसलिए चौथा विकल्प भी आत्म-रक्षा की भावना नहीं देता।

५—पाँचवें विकल्प में साधन-पद्धति को छोड़ शेष अहिंसा की दृष्टि के के अनुकूल नहीं हैं।

६-७—छठे विकल्प में कष्ट से बचाव करने और सातवें में जीवन को बनाए रखने की बात मुख्य होती है, इसलिए ये भी अहिंसा के शुद्ध रूप का निर्माण नहीं करते। इन दो (६-७) और पाँचवें विकल्प को व्यावहारिक या सामाजिक अहिंसा कहा जाता है।

८—आठवाँ विकल्प अहिंसा का पूर्ण शुद्ध रूप है।

शस्त्र-विवेक

हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है, वैसे हिंसा के साधन को भी शस्त्र कहा गया है। हत्या हिंसा होती है किन्तु हिंसा हत्या के बिना भी होती है। अविरति या असंयम, जो वर्तमान में हत्या नहीं किन्तु हत्या की निवृत्ति नहीं है, इसलिए वह हिंसा है। हत्या के उपकरणों का नाम है—द्रव्य-शस्त्र और हिंसा के साधन का नाम है भाव-शस्त्र[1]। यह व्यक्ति का वैभाविक गुण या दोष है, इसलिए यह मृत्यु का कारण नहीं; पाप-बन्ध का कारण है। द्रव्य-शस्त्र व्यक्ति से पृथक् वस्तु है। वह मूलतः हत्या का कारण बनता है और वह हत्या का कारण बनना है इसलिए पाप-बन्ध का कारण भी होता है। शस्त्र तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) स्वकाय-शस्त्र

(२) परकाय-शस्त्र

(३) उभय-शस्त्र (स्व-काय और पर-काय दोनों का संयोग)

जीवों के छह निकाय हैं :—

१—स्थानांग १०

(१) पृथ्वी
(२) पानी
(३) अग्नि
(४) वायु
(५) वनस्पति
(६) त्रस

पृथ्वी द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात—यह स्वकाय-शस्त्र है।

पृथ्वी-अतिरिक्त वस्तु द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात—यह पर-काय-शस्त्र है।

पृथ्वी और उससे भिन्न वस्तु-दोनों द्वारा पृथ्वी का अपघात—यह उभय शस्त्र है[1]।

वायु के सिवाय सबके लिए यही बात है। वायु का शस्त्र वायु ही है। चलने-फिरने, उठने-बैठने से वायु की हिंसा नहीं होती। चलने-फिरने में वेग होने पर तेज वायु पैदा होती है, उससे वायु की हिंसा होती है।

त्रस जीव स्थूल होते हैं, इसलिए उनकी हिंसा स्पष्ट जान पड़ती है। स्थावर जीव सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उनकी हिंसा सहजतया बुद्धिगम्य नहीं है। स्थावर जीवों की अवगाहना का एक प्रसंग देखिए :—

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! पृथ्वीकाय की अवगाहना कितनी है?" भगवान् ने कहा—"गौतम! चक्रवर्ती राजा की दासी; जो युवा, बलवती, युगवती व नीरोग है तथा कला-कौशल में निपुण है। ऐसी दासी वज्र की कठिन शिला पर वज्र के लोढ़े से छोटी गेंद जितने पृथ्वी के पिण्ड को एकत्रित कर पीसे, बार-बार पीसने पर भी कितनेक पृथ्वी-काय के जीवों को केवल सिला-लोढ़े का स्पर्श मात्र होता है, कितनों को स्पर्श तक नहीं होता, कई जीवों को संघर्ष होता है और कई एक जीवों को

१—किञ्चत् स्वकाय शस्त्रं लकुटादि किंचित परकायशस्त्रं पाषाणान्यादि, तथोभय शस्त्रं दात्रदायिकाकुठारादि, एतद् द्रव्यशस्त्रम्, भावशस्त्रं पुनरसंयमः, दुष्प्रणिहित मनोवाक्कायलक्षण इति। —आचारांग वृत्ति।

नहीं, कई एक पीड़ा का अनुभव करते हैं, कितनेक मरते हैं और कितनेक मरते तक नहीं, कितनेक पिसे जाते हैं और कितनेक नहीं पिसे जाते[1] ।"

स्थावर जीवों को छूने मात्र से कष्ट होता है। शस्त्र-विवेक के बिना अहिंसा की मर्यादा नहीं समझी जा सकती।

१—पुढवि काइयस्सणं भन्ते ! के महालिया सरीरागाहणा पन्नता···अत्थेगतिया नो पिट्ठा। —भगवती १९।३।

दूसरा खण्ड

अहिंसा की मीमांसा

पाँचवां अध्याय

आचार्य भिक्षु कौन थे ?

आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पहले मैंने 'अहिंसा' नामक एक पुस्तक लिखी थी। उसमें तेरापन्थ के अहिंसा विषयक दृष्टि-बिन्दु का थोड़े में विवेचन है। वह पुस्तक जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा चाड़वास द्वारा प्रकाशित हुई। पूनमचन्द सिंघी ने महात्मा गांधी के निजी सचिव प्यारेलालजी को तेरापन्थ साहित्य की कई पुस्तकें दीं। उनमें एक वह भी थी। महात्माजी ने उनमें से कितनी पुस्तकें पढ़ीं, यह पता नहीं। दो पुस्तकें पढ़ीं—यह निश्चित है। उनमें एक है आचार्य श्री तुलसी की 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' और दूसरी है 'अहिंसा'। इन्हें केवल पढ़ा ही नहीं, पढ़ने के साथ-साथ वे अपने विचार नोट भी करते गए। अहिंसा पृष्ठ १६ में महात्माजी ने लिखा 'आचार्य भिक्षु कौन थे' ? इस जिज्ञासा का सम्बन्ध स्थूल शरीरधारी भिक्षु से नहीं किन्तु अहिंसा के सूक्ष्मन्वेषी आचार्य भिक्षु से था।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के अद्वितीय भाष्यकार हुए हैं। अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने जिस कुशाग्रता के साथ अनुसन्धान किया, वह अहिंसक जगत् के लिए गौरव की बात है। उनके सफल मन्थन से निकले रत्न आज भी छिपे पड़े हैं। और यही कारण है, कई व्यक्ति मूल तक पहुंचे बिना उसकी बाहरी झांकी से ही संदिग्ध हुए हैं। उन्हें समझना चाहिए कि समुद्र का रूप यही नहीं है, जो ऊपर से दीख रहा है। वह रत्नाकर है, ऊपर से भले ही शेवाल का पुंज दीखे।

हमारे असंख्य क्षेत्रों में असंख्य आचार्य हुए हैं। उनकी हमें असंख्य देन हैं। उनसे असंख्य दृष्टियाँ हमें मिली हैं। जिस समय जिन आचार्यों को जो त्रुटियाँ लगीं, उन्हीं पर उन्होंने प्रमुख प्रहार किया। इसका अर्थ यह नहीं होता कि दूसरी-दूसरी दृष्टियां एकान्ततः सही नहीं ही हैं। हम उनके दृष्टि-बिन्दुओं की उपज, उसके साधन और आकार-प्रकारों को समझे बिना उनकी मौलिकता तक नहीं पहुंच सकते। यही कारण है कि हम एक दूसरे के अपवाद प्रतिवाद में लग जाते हैं। स्याद्वादी अथवा समन्वयवादी के लिए यह

उलझन नहीं होनी चाहिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम द्रष्टा की मीमांसन-भूमिका को समझ लें तो कम से कम उनके प्रति अन्याय करने से बच सकते हैं।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा के गर्भ में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का बल था। वे धर्म और दया-दान के नाम पर पोषित दुष्प्रवृत्तियों के कटु परिणामों को अनुभव कर सूक्ष्म-चिन्तन में लगे, लगे रहे, समूचा जीवन उसी साधना में लगाया। अहिंसा, धर्म, दया और दान पर बड़े-बड़े मौलिक ग्रन्थ लिखे। उन्होंने देखा कि धर्म के असली स्वरूप को न समझ उसके बाहरी रंग-रूप पर मर मिटने वाले श्रद्धालुओं को तीखे बाणों के बिना जगाने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है। उन्होंने 'अनुकम्पा' शीर्षक ग्रन्थ लिखा। उसके द्वारा ऐसे तीखे बाण छोड़े कि दया-दान का स्थिति पालक वर्ग हिल उठा। उनका क्रान्तिकारी सुधारक रूप विद्रोह का झंडा लिए हुए था। वह तूफान के रूप में सामने आया। उन्होंने कहा—दया धर्म है, दान धर्म है, सेवा धर्म है, परन्तु ये अमर्यादित धर्म नहीं हैं। इनकी मर्यादा को समझो, अन्तर परख करो। धर्म-अधर्म दृष्टि-सापेक्ष है। एक सामाजिक व्यक्ति के लिए जो धर्म होता है, वह आत्म-साधक मुमुक्षु के लिए धर्म नहीं भी होता। समाज-संस्था और राज्य-संस्था की समूची कार्य-प्रणाली धर्म से अनुमोदित हो ही नहीं सकती। इसीलिए समाज-धर्म आत्म-धर्म से भिन्न है। समाज-धर्म का उद्देश्य जहाँ सामाजिक सुख सुविधा है, वहाँ आत्म-धर्म का उद्देश्य है—शरीर-मुक्ति। समाज-धर्म और आत्म-धर्म का एकीकरण करने में तम्बाकू और घी के सम्मिश्रण की सी भूल है। समाज की भूमिका को विशुद्ध रखने के लिए उस पर आत्म-धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है, किन्तु वह आत्म-धर्म ही है, यह गलत दृष्टिकोण है। सामाजिक सहयोग के स्थान पर अपने सामाजिक भाइयों को भिखारी और दया के पात्र बनाना सामाजिक अपराध भी है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्ति-घोष सहा नहीं गया, लोगों को नया ही नहीं, अटपटा लगा। विरोध की बाढ़ आई फिर भी वे अपने पथ से हटे नहीं। उन्हें मृत्यु का भय नहीं था, पूजा-प्रतिष्ठा की कामना नहीं थी। जो

सही लगा, उसे अपनाया। यही उनके विषय, में जयाचार्य की 'मरण धार शुद्ध मग गह्यां' वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

सिंह-पुरुष आचार्य भिक्षु (जीवन-झांकी)

अहिंसा आत्मा को पखारती है। सचाई उसका तेज बढ़ाती है। जहाँ ये नहीं, वहाँ व्यक्तित्व ही नहीं, धर्म तो दूर की बात। जनकल्याण बाद में, पहले होना चाहिए—आत्म-कल्याण—अपना शोधन। आत्म-शोधक ही दूसरों को उबार सकता है।

आचार्य भिक्षु एक-एक धर्म को परखते हुए चलते चले। वर्षों की परख और साधना के बाद वे तेरापंथ के अधिनायक के रूप में धर्म क्षेत्र में चमके। आघात प्रत्याघात के भंवर में रुके बिना अव्याहत गति से बढ़े चले।

वे वैद्य बने। साधु-समुदाय की नाड़ी पहचानी। अनाचार की धुरी तोड़ने उनका दिल क्रान्ति से उद्वेलित हो उठा। वे विद्रोह के स्वर में बोले। युग की तहों में छिपी बुराई बाहर आ पड़ी। मत बांधने की वृत्ति से वे सदा खिसियाए रहे। शिष्यों की जागीरदारी प्रथा को तोड़ने के लिए आग उगली। धन और घर बांध बैठने वाले साधुओं पर तीखे बाण फेंके। आपस में झगड़ने वाले साधुओं की ठगी वृत्ति की जड़ काटते रहे। खान-पान के लालची और ऐशो-आराम में फंसे साधुओं की कमजोरियों पर उनकी लोह लेखनी ने निराले ढंग का प्रहार किया। उनकी दो रचनाएं—(१) साधां रै आचार री चौपई और (२) श्रद्धारी चौपई, पढ़ जाइए। उनकी क्रांति की चिनगारियाँ आचार-शैथिल्य को धुंआ करती नजर आएगी। आप सहमेंगे—कटु पदावली पर, कटु पदावली पर, कटु शब्दों पर और चुभने वाली गाथाओं पर।

ये रचनाएं आचार्य हरिभद्र के युग की और उनकी क्रान्त कृति संबोध करण की स्मृति सहसा ला देती है। चैत्यवासियों की आचार ढिलाई पर उन्होंने जो रुख लिया, उससे हजार गुना रूखा-रुख आचार्य भिक्षु ने अपनाया।

आचार्य भिक्षु जितने क्रान्तदर्शी थे, उतने ही नहीं, उससे और अधिक शान्त-दर्शी थे। उनकी वीतराग की सी क्षमा पत्थर दिलको पिघलाने वाली थी। बुराई के साथ वे जीवन भर जूझते रहे। पर व्यक्ति का प्रेम उन्होंने कभी

नहीं खोया। प्रतिद्वन्द्वियों के साथ भी उनका स्नेह भरा व्यवहार था। उन्होंने अपने अनशनकाल में विचार-भेद रखने वालों से क्षमा मांगी। जान या अनजान में हुए कटु व्यवहार की आलोचना की। तब विरोधी कहलाने वालों की आँखें भी डबडबा आईं।

उनके हृदय में प्राणी मात्र के प्रति समता का भाव था। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा को धर्म मानने के लिए वे कभी तैयार नहीं हुए। उनके मस्तिष्क में दान और दया की मर्यादा का पूरा विवेचन था। लोग उनके सिद्धान्तो की तोड़-मरोड़ करते रहे, चूहे बिल्ली जैसी भ्रामक आपत्तियां उठाईं, धर्म-संकट के प्रश्नों द्वारा जनता को उत्तेजित किया फिर भी वे अपने विश्वास पर अटल रहे। शान्त भाव से जनता को तथ्य बताते रहे।

उनका अहिंसा, दान और दया सम्बन्धी दृष्टिकोण लोक-धारणा से भिन्न था। उन्होंने बताया—अध्यात्म दया वह है; जिसमें राग, द्वेष, मोह आदि न हों। वही दान आत्म कल्याण का हेतु है, जो संयम का आलम्बन बने। धर्म का स्वरूप आत्म-संयम और आत्म-संतुष्टि है। भौतिक सन्तुष्टि और भौतिक संरक्षण अध्यात्म-धर्म नहीं है।

एक ओर वे आचार-शिथिल साधु-सन्तों की सामन्तशाही को चुनौती दे रहे थे, दूसरी ओर ऐसे विचार दे रहे थे, जो लोक-मानस के अनुकूल नहीं थे। इसलिए उन्हें संघर्षों की बाढ़ को चीरकर चलना पड़ा। उनमें शान्ति और क्रान्ति का अपूर्व संगम था, इसलिए वे कुछ सहते और कुछ कहते चलते रहे। वे कुशल योद्धा थे, अपने आप से लड़ना जानते थे।

उनकी कठोर तपस्या और कठोर चर्या ने एक प्रकाश की किरण फेंकी। वातावरण बदल गया। अब उनके विचार भी लोक-मानस को खींचने लगे। वे साधक थे। साधना के लिए चले। सम्प्रदाय चलाने और मत बांधने की लालसा उन्हें छू तक नहीं पाई। वे तब स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रुघनाथजी से अलग हुए, सम्प्रदाय चलाने के लिए नहीं किन्तु भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार चलने के लिए। महापुरुष चले वह मार्ग बन जाए, यह एक बात है और मार्ग चलाने के लिए चले यह दूसरी बात। ऐसा

ही हुआ। वे चले और मार्ग बन गया। वे चले किसलिए? यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए।

"आहार पाणी जाच कर सर्व साध उजाड़ में परहा जावता। रूंखड़ां री छायां आहार पाणी मेल नै आतापना लेता, आथण रा पाछा गांव मैं आवता। इण रीत कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्हे या न जाणता मांरो मारग जमसी नैं यूं दीक्षा लेसी, यूं श्रावक श्राविका हुसी। म्हे तो विचारता, आत्मा रा कारज सारस्यां, मर पुरा देस्यां। इम धार विचार नैं तपस्या करता।"

उनके साधन अपने आप जुटे, उन्होंने जुटाये नहीं। उनका मार्ग तेरापंथ कहलाया। वे 'भीखणजी' इस नाम से ही पहचाने जाते रहे। जोधपुर के एक सेवक कवि ने आपके गण को तेरापन्थ की संज्ञा दी। उसने तेरह की संख्या को लेकर वह नाम पुकारा। नाम चल पड़ा। आचार्य भिक्षु मेवाड़ में थे। उन्हें इसका पता चला। वे संख्या में कोई तत्त्व नहीं देखते थे। उन्होंने कहा—'प्रभो! तेरापंथ है। मैं इसका एक पथिक हूँ।' इस प्रकार आचार्य भिक्षु के संघ का नामकरण हो गया। पहले के भीखणजी अब "तेरापन्थी भीखण" कहलाने लगे।

शिष्य समुदाय बढ़ने लगा। साधु बने, साध्वियां बनीं, श्रावक श्राविकाएं भी बने। वे अपनी गति से चलते चले। कठोर अनुशासन और मजबूत संगठन के लिए वे अपने ढंग के अकेले ही थे। उनकी दिव्य-दृष्टि और शुद्ध नीति से संघ की आत्मा बलवान् बन गई। सोलह वर्ष की अनुभव-परीक्षा के बाद उन्होंने भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी चुना। तब संघ का एक विधान भी लिखा। साधुओं का दिल लिया और बदले में ये नियम दिये। जैसे :—

१—तेरापन्थ गण एक आचार्य के नेतृत्व में रहे।

२—शिष्य सब एक आचार्य के हों।

३—दीक्षा आचार्य के नाम से दी जाए।

४—विहार, चातुर्मास, धर्म-प्रचार आदि सब आचार्य के आदेशानुसार किये जांए।

५—भावी आचार्य का निर्वाचन पूर्वाचार्य करें।

६—पुस्तकें संघपति के निश्राय में रहें आदि-आदि।

उनके सम-सामयिक साधुओं ने भी ऐसा ही चाहा और इस नियमावली को सहर्ष अंगीकार किया।

साधु-संघ को आचार-कुशल रखने के लिए, शिष्य-लोलुपता को अपनी मौत मरने देने के लिए ऐसा विधान जरूरी था। विधान की पृष्ठ भूमि में उन्होंने अनुशासन का वातावरण बनाया। वे कवि बनकर साधुओं के दिल तक पहुंचे और शासक बन दिमाग पर घूमे। उनकी शिक्षायें और शासनायें अमिट बन गईं। उन्होंने जो कहा था—साधुओं! साध्वियों!

(१) नियम हृदय को साक्षी बनाकर पालो।

(२) संकोच ला कोई संघ में मत रहो।

(३) स्वेच्छाचारिता मत रखो।

(४) नियमानुवर्ती बनो।

(५) जो कुछ मन में आये वह आचार्य को कह दो।

(६) आचार्य कहे वह मानों, समझ कर या श्रद्धा से।

(७) आचार्य के कार्य-कलाप में हस्तक्षेप मत करो।

(८) आपस में हेत रखो।

(९) आचार से सम्बन्ध रखो, व्यक्ति से नहीं।

(१०) किसी में दोष देखो तो तत्काल उसे जता दो, गुरु को जता दो, दूसरों को मत कहो।

(११) बड़ों का सम्मान करो।

(१२) छोटों के साथ मृदु व्यवहार करो।

(१३) दैनिक कार्यों को बांट लो—बारी से करो।

(१४) अपनी पांती का खाओ, पीओ, पहनो, पांती की जगह में बैठो, सोओ, पांती में सन्तोष मानो।

(१५) रोगी साधु साध्वी की अग्लान और निःस्वार्थ भाव से सेवा करो।

(१६) गण, गणी के सम्बन्ध को पुष्ट करो। गण के हित को अपना हित और अहित को अपना अहित समझो।

(१७) गण के किसी भी अंश की उत्तरती मत करो।

(१८) दलबन्दी मत करो।

(१९) यह गण सबका है—इसे अपना समझो और अपना-अपना दायित्व निभाओ।

(२०) गुरु की दृष्टि को देखकर चलो आदि-आदि।

आचार्य भिक्षु स्थितिपालक नहीं, सुधारक थे। उन्होंने परिवर्तन किये और ऐसे किये, जिनके लिए इतिहास के पृष्ठ खाली पड़े थे। भगवान् महावीर की शासन-व्यवस्था में सात पद थे। परम्परा से वे चले आ रहे थे। वे तब आत्म-साधना के पोषक थे किन्तु आज उनकी पोषकता समाप्त हो चली थी। वे साधना-पथ को कंटीला बना रहे थे। आचार्य भिक्षु ने सारी चेतना आचार्य को सौंप दी। सात ही पदों का कार्य आचार्य में केन्द्रित कर दिया।

अपना-अपना चेला बनाने की जो प्रथा थी, उसकी जड़ ही काट दी। जिस-तिस को मूंड चेला बनाने वालों की उन्होंने पूरी खबर ली। "चेला करण री चलगत ऊंधी,"—"विकलां नैं मूंड किया भेला"—उनके ये प्रसिद्ध पद्य आग्नेय अस्त्र से कम नहीं हैं। वे मतवाद और बाड़ाबन्दी के घोर विरोधी थे। मतवाद चलाने के लिए जो चलते हैं, चेला परम्परा बढ़ाते हैं, वे साधना से परे हैं—इस विचार को वे आत्मविश्वास के साथ प्रचारित करते रहे। आचार्य भिक्षु ने बाहर से संघ को बांधा और अन्तर में नीतिनिष्ठ बना उसे मुक्ति दी। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—प्रभो! आपका यह संघ कब तक चलेगा? वे बोले—जब तक साधु-संघ की नीति विशुद्ध रहेगी और आचार कुशल रहेगा, तब तक संघ को आंच भी आने वाली नहीं है।

वे शुद्ध विचार की आधार-शिला शुद्ध आचार को मानते थे आचार शुद्ध बने, बिना विचार शुद्ध बन नहीं सकते। ये ही कारण हैं, उन्होंने आचार शुद्धि पर अधिक बल दिया। उन्होंने विधान लिखा उसका उद्देश्य बताया है—"चारित्र शुद्ध पले" और "न्याय मार्ग चले" इसलिए मैंने यह उपाय किया है। वे आदि से अन्त तक—

कहो साधु किसका सगा, तड़के तोड़े नेह।
आचारी स्यूं हिल मिलै, अणाचारी नै छेह॥"

इसी विचार के पोषक रहे। उन्होंने अपने जीवन काल में १०५ शिष्य किए। उनमें से ३७ शिष्य अलग हो गए या कर दिए गए, फिर भी वे शिथिल मार्ग पर चलने को राजी नहीं थे। वे अभय थे। लोकैषणा उन्हें कभी विचलित नहीं कर सकी। सत्य की साधना में उनका जीवन बीता। उन्हें कटु सत्य भी सुधा-घूंट की तरह पीना पड़ा किन्तु वे असत्य के लिए सत्य की बलि करने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने मोह अनुकम्पा को धर्म नहीं माना। भगवान् महावीर ने गोशालक पर मोहानुकम्पा की। इसे वे धर्म कैसे मान सकते थे। यह बड़ी समस्या थी। भगवान् भगवद्-दशा में वीतराग और सब दोषों से परे होते हैं। साधना काल में उनमें भी राग-द्वेष की परिणति हो सकती है। किन्तु साधारण लोग अति भक्तिवश ऐसा नहीं सुन सकते। आचार्य भिक्षु भगवान् महावीर के अत्यन्त श्रद्धालु थे। फिर भी वे चले तत्त्व-विश्लेषण करने, इसलिए उन्हें कटु सत्य की कड़वी घूंट पीनी पड़ी उन्होंने लिखा—

"छ लेश्या हुंती जद वीर में, हुंता आटूं ही कर्म।
छद्मस्त चूका तिण समय, कोई मूरख थापै धर्म ॥"

इस पद्य को उनके शिष्य भारमल जी स्वामी ने देखा। वे आचार्य भिक्षु से कहने लगे—गुरुदेव! यह पद्य बहुत कटु है। आपने कहा—असत्य तो नहीं है? वे बोले—है तो सत्य। आप बोले-सत्य है तब रहने दो। लोगों में विरोध होना था सो हुआ ही। इसको लेकर आचार्य भिक्षु को बहुत कुछ सहना पड़ा। अनेक लोगों ने आचार्य भिक्षु को 'दया के विरोधी' 'दान के विरोधी' और 'भगवान् महावीर को चूका बताने वाले' के रूप में पहचाना।

यह उनकी सही पहचान नहीं है। उनकी पहचान के लिए हमें कुछ गहराई में जाना होगा। उनका दृष्टिकोण समझना होगा। वे अहिंसा के बहुत बड़े भाष्यकार हुए हैं। उन्होंने दृष्टि दी है, उसे हम धर्म-संकट के प्रश्न खड़े कर टाल नहीं सकते। उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा-तत्त्व-दर्शन का मनन करें। तभी हम उनके कृतज्ञ बन सकेंगे।

अचार्य भिक्षु का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

तेरापंथ का इतिहास दान-दया के संघर्ष का इतिहास है। आचार्य भिक्षु

से लेकर आजतक—दो शताब्दियों में यह विषय बहुत चर्चा गया है। इसका अध्यात्मवाद एक गूढ़ पहेली बना हुआ है। मूल तत्त्व तक पहुंचने वाले बिरले होते हैं। सिद्धान्त के बाहरी कलेवर में उलझने वाले सहसा नहीं सुलझते।

आचार्य भिक्षु ने बताया—बलात् हिंसा छुड़ाना धर्म नहीं। लोभ या लालच में डालकर हिंसा छुड़ाना धर्म नहीं। जीने की और मरने की इच्छा करना धर्म नहीं। असंयम का पोषण धर्म नहीं। पौद्गलिक शान्ति धर्म नहीं। वासना की पूर्ति धर्म नहीं। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति धर्म नहीं। राग या आसक्ति धर्म नहीं। क्रोध या द्वेष धर्म नहीं मोह या अज्ञान धर्म नहीं। बड़ों के लिए छोटों को कुचल डालना धर्म नहीं। समाज धर्म नहीं। राज्य धर्म नहीं। व्यक्ति धर्म नहीं। जीना धर्म नहीं। मरना धर्म नहीं। पाना धर्म नहीं। खोना धर्म नहीं। एक शब्द में प्रेयस् धर्म नहीं। और बताया श्रेयस् धर्म है। त्याग धर्म है। तपस्या धर्म है। ज्ञान बढ़े—आत्मा जगमगा उठे, यह धर्म है। दर्शन बढ़े, श्रद्धा बढ़े, यह धर्म है। चारित्र का विकास धर्म है। तप तपे, दूसरों को कष्ट दिये बिना कष्ट सहे, यह धर्म है। एक शब्द में अहिंसा धर्म है।

अहिंसा ही दान है अहिंसा ही दया है। सूक्ष्म हिंसा का भाव भी दया नहीं है, दान नहीं है। कोई प्राणी नहीं मरता, कोई अन्याय नहीं होता, न समाज जिसे बुरा मानता है और न राज्य; फिर भी यदि वह राग या मोह की परिणति है तो अध्यात्म-दर्शन के अनुसार वह हिंसा है, अधर्म है, बन्धन है, अशुभ कर्म है, पाप है, संसार है, मोह है, आसक्ति है, लोक-विधि है, लोक-धर्म है, सामाजिक कर्तव्य है, लौकिक रीति-रिवाज है। किन्तु मोक्ष का मार्ग नहीं है, साधना का मार्ग नहीं है, मोक्ष धर्म या आध्यात्मिक धर्म नहीं है। आचार्य भिक्षु ने बताया कि समाज की आवश्यकताओं को धर्म की ओट ले पूरा करना दोहरी भूल है। यह रूढ़िवादी परम्परा पर तलवार बनकर चली। यह क्रान्ति का शंख स्थिति-पालकों को चुनौती देते हुए बजा। आचार्य भिक्षु को विद्रोही घोषित किया गया। वे दान-दया के उत्थापक और भगवान् महावीर की वाणी के निह्नव कहलाकर भी भगवद्-वाणी की सच्ची उपासना करने लगे।

वे क्रान्ति में खेले और क्रान्ति से जूझे। उनकी सत्य-निष्ठा, कठोर चर्या अतर्क्य तितिक्षा और अदम्य उत्साह ने वातावरण को बदल डाला। आज भी वे प्रश्न नहीं मिटे, विरोध नहीं मिटा फिर भी आचार्य भिक्षु की साधना और उनके शिष्य-परम्परा के जागरण का प्रभाव समझिए—हमारा अतीत का क्रान्ति-काल आज शान्ति-काल बनकर चल रहा है। हमें अपने सिद्धान्त की सचाई और स्थिरता में अडिग विश्वास है। हमें लगता है—युग हमारे साथ चल रहा है। आज से दो शताब्दी पहले आचार्य भिक्षु ने धर्म को जो व्यक्ति-वादी रूप दिया था, वह रूप आज के समाज-तन्त्र को भी मान्य हो रहा है। सामाजिक आवश्यकताओं को सामाजिक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न ही आज तक के समाज विकास का सबसे अन्तिम और सबसे स्वस्थ परिणाम है। व्यक्ति की पूंजीवादी मनोवृत्ति और अहं को पोषण देने वाली दान-परम्परा के लिए आज की समाज-व्यवस्था में स्थान नहीं है। दीन भाव को जन्म देने वाली प्रवृत्ति में अब धर्म या पुण्य कहलाने की क्षमता नहीं रही है।

शब्द-रचना में मत उलझिए

यह मत भूलिए—क्रान्ति की भाषा में ओज होता है और शान्ति की भाषा में समन्वय। समय-समय पर भाषा बदलती है। प्रयोजन लिए भाषा बदलती है। प्रयोग का विकास होते-होते भाषा बदलती है। तत्त्व न बदले तो भाषा बदले और फिर बदले, उसमें दोष क्या? कुछ भी नहीं। भगवान् पार्श्वनाथ जिसे 'बहिर्धादान-विरमण' कहते, उसे भगवान् महावीर ने ब्रह्म विरमण और परिग्रह-विरमण कहा। भाषा जरूर बदली किन्तु भाव नहीं बदला। वे स्त्री त्याग और परिग्रह-त्याग को एक महाव्रत मानकर चले। भगवान् महावीर ने उन्हें दो महाव्रत बना डाला और दोनों के लिए दो नए शब्द दिये। 'धर्म' शब्द का इतिहास देखिए। जो एक दो अर्थ में व्यवहृत होता था वह आज पचासों अर्थ लिए चल रहा है और वाद-विवाद का केन्द्र बन रहा है।

भगवान् महावीर की वाणी में गति-तत्त्व धर्म है तो मोक्ष साधना भी धर्म है। वे गांव, नगर की व्यवस्था को धर्म कहते हैं तो इन्द्रिय-विकारों को रोकने को भी धर्म कहते हैं। उन्होंने साधु के साथ धर्म जोड़ा तो पाप के साथ भी उसे छोड़ा नहीं।

इस पर चलिए—क्या शब्द एक है, इसलिए सबका तत्त्व एक होगा? दूसरी ओर दृष्टि डालिए—क्या शब्द अनेक होने पर तत्त्व एक नहीं हो सकता? सही समझिए—अपनी-अपनी मर्यादा में दोनों बातें बनती हैं। एक शब्द अनेकता में आ अनेक अर्थ बनाता है और अनेक शब्द एकता में आ एक तत्त्व की व्याख्या देते हैं। कई लोग शब्द-रचना में उलझ जाते हैं।

वस्तुवृत्त्या यह उलझन शब्द-प्रयोग का इतिहास और निक्षेप का तत्त्व न समझने का परिणाम है। मूल तत्त्व की सुरक्षा होनी चाहिए। आत्मा और शरीर को स्वस्थ रखते हुए परिस्थिति के अनुसार वेश-भूषा बदलने का अधिकार है। यह सबको रहता है और रहेगा।

विवेकशील उत्तर-पद्धति

भगवान् महावीर ने आचारांग में बताया है—उपदेश करते समय साधु को देखना चाहिए, सुनने वाले किस धर्म के अनुयायी हैं? उनके विचार कैसे हैं? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समुचित मीमांसा कर फिर धर्मोपदेश देना चाहिए[1]। कारण साफ है। साधु का उपदेश लाभ के लिए होना चाहिए, लाभ वही आत्म-कल्याण। साधु वैसा उपदेश करे, जो लोग सुनना ही न चाहें, तब लाभ कैसे बढ़े? इसलिए जैसे-जैसे पचा सके, वैसे-वैसे तत्त्व देना चाहिए। मूल बात, सौ बात की एक बात या घूम-फिर कर वही बात आती है कि तत्त्व को अन्यथा कहना ही न चाहिए। यथार्थ रूप में उतना कहना चाहिए, जितना कहना अवसर के प्रतिकूल न हो—अलाभ न बढ़े।

सम्राट् अकबर ने हीर विजय सूरीश्वर से पूछा—"क्या आप सूरज और गंगा को नहीं मानते"? तब उन्होंने कहा—"हम मानते हैं, वैसा शायद दूसरे नहीं मानते। देखिए—सहज बात है, अपने प्यारे का वियोग होने पर लोग रोटी-पानी तक भूल जाते हैं। सूरज के वियोग में हम पानी तक नहीं पीते। क्या ऐसा प्यार कोई दूसरा करता है? हम गंगा के पानी को गन्दा नहीं करते। उसमें अपना मैल बहाने वाले उसे अधिक मानते हैं या हम?"

१—केयं पुरिसे कं च नए —१।२।६।१५७

पीपाड़ में एक चारण भक्त था[1]। उसका नाम था गेबीराम। वह लोगों को लपसी खिलाया करता था। कुछ लोगों ने उसे भड़काया—तुम जो लपसी खिलाते हो, उसमें भीखणजी पाप कहते हैं। वह तुरन्त आचार्य भिक्षु के पास आकर बोला—भीखण बाबा ! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूँ, उसमें क्या होता है ? आचार्य भिक्षु ने कहा—लपसी में क्या डालते हो ? उसने कहा—गुड़। तब आचार्य भिक्षु ने कहा—जितना गुड़ डाला जाता है, उतना ही मीठा होता है। बहुत ठीक बहुत ठीक—यह कहकर वह चलता बना।

एक दूसरी घटना लीजिए—शोभाचन्द नामक एक व्यक्ति आचार्य भिक्षु के पास आकर कहने लगा—"आप मूर्ति को उत्थापते (अस्वीकार करते) हैं ?"

आचार्य भिक्षु बोले—"हमने भगवान् की वाणी पर घर छोड़ा है, भला हम उन्हें कैसे उत्थापे ?"

आचार्य भिक्षु ने कहा—"देवालयों का हजारों मन पत्थर होता है। हम तो सेर दो सेर भी नहीं उठाते।"

उसने आगे फिर कहा—"आपने प्रतिमा उत्थाप दी। प्रतिमा को पत्थर कहते हैं।"

तब आचार्य भिक्षु ने "हम प्रतिमा को क्यों उत्थापें ? हमें असत्य बोलने का त्याग है। सोने की प्रतिमा को सोने की कहते हैं, चांदी की प्रतिमा को चांदी की कहते हैं, सर्व धातु की प्रतिमा को सर्व धातु की कहते हैं, पाषाण की प्रतिमा को पाषाण की कहते हैं। ऐसा सुन उसका आवेग शान्त हो गया[2]।

१—भिक्षु-दृष्टान्त पृष्ठ ४७

२—शोभाचन्द बोल्यो—आप भगवान् ने उत्थापो हो, ए बात आछी न कीधी। जद स्वामीजी बोल्या—मे तो भगवान रा वचन सूं घर छोड़ साधपणो लियो मे भगवन्त ने क्यां ने उत्थापां। बले शोभाचन्द कह्यो—आप देवरो उत्थापो ? जद स्वामीजी बोल्या—देवल रो तो हजारां मन पत्थर है मे तो सेर दो सेर पिण क्यां नै उत्थापां। जद सोभाचन्द बोल्यो—आप भगवान् री प्रतिमा उत्थापी, प्रतिमा ने पत्थर कह्यो। जद स्वामीजी

यह उत्तर-पद्धति निरंकुश नहीं है। "क्षेत्र, काल को समझकर चलना चाहिए"—इस भगवद्-वाणी के सहारे ऐसी पद्धति चलती है[1]।

गुरु मन्त्र-द्रष्टा होते हैं। वे जानते हैं—किसे, कब, किस रूप में, कितना तत्त्व देना चाहिए। साधारण व्यक्ति के लिए यह रहस्य रहस्य ही रहता है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—"क्या देवों को संयमी कहना चाहिए?"

भगवान् बोले—"नहीं; वे संयमी नहीं हैं।"

"क्या उन्हें संयमासंयमी कहना चाहिए?"

"नहीं; उनके नाम मात्र का भी संयम नहीं होता।"

"क्या उन्हें असंयमी कहना चाहिए?"

"नहीं, असंयमी शब्द रूखा है—कठोर है।"

"तो भगवन्! क्या कहना चाहिए?"

तब भगवान् बोले—"नो-संयमी–संयमी नहीं हैं, ऐसा कहना चाहिए[2]।"

यह एक शिक्षा है, जो हमें भाषा का उपयोग सिखाती है। यह सोलह आना सही है—तत्त्व यथार्थ रूप में रखना चाहिए। उसे छिपाना कायरता है। यह भी एक महान् सत्य है कि तत्त्व रखने में जितनी निर्भीकता होनी चाहिए, उससे कहीं अधिक विवेक होना चाहिए। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"साची ने साची कहणी निसंक स्यूं, ते पिण अवसर जोय।"

तत्त्व-निरूपण का अर्थ यह है कि लोग समझें। तत्त्व-निरूपण करने वाला इससे पहले ही उन्हें उभाड़ दे, यह विवेक नहीं होता। गुरु-तत्त्व-चर्चा में कुशल वैद्य बनकर चलते हैं। कुशल वैद्य वह होता है, जो रोगी की मनः स्थिति पर नियन्त्रण पा ले। पहले दिन ही रोग को उभाड़ कर वह रोगी

बोल्या—म्हे तो प्रतिमा नैं क्यांनै उत्थापां म्हारै झूठ बोलण रा सूंस है। सोने री प्रतिमा ने सोनेरी कहां, रूपा री प्रतिमा ने रूपा री कहां, सर्व धात री प्रतिमा ने सर्व धात री कहां, पाषाण री प्रतिमा ने पाषाण री कहां।

—भिक्षु दृष्टान्त ९६

१—क्षेत्रं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए—दशवैकालिक ८

२—भगवती ५।४

का हित साध नहीं सकता। जैसा सह सके, वैसा करते-करते वह रोग भी मिटा देता है और रोगी को भी डिगने नहीं देता।

जिज्ञासु या श्रोता को शब्द-प्रयोग से चौंकाने वाला तत्त्व आचार्य दे नहीं सकता। अपवाद की दशा में मत सोचिए। विषम स्थिति में वैद्य को भी पहली बार कड़वी घूंट पिलानी पड़ती है। किन्तु सब जगह कड़वी घूंट पिलाने की बात सही नहीं होती। एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा—"सूत्र मैं साधु ने जीव राखणा कह्या" तब स्वामीजी बोले—"ए तो ठीक है—छै ज्यूं रा ज्यूं राखणा, किण हीनै दुःख देणो नहीं[1]।"

आचार्य भिक्षु की रचना और उत्तर-शैली के मर्मज्ञ यह नहीं कह सकते कि वे एक ही भाषा को टानकर चले।

उन्होंने एक ही तत्त्व को अनेक रूपों में रखा। प्रश्नकर्ता की मनः स्थिति, योग्यता और जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखा उसीके अनुसार वे चले। उदाहरण के रूप में देखिए—"किण ही पूछ्यो—"भीखणजी! कोई बकरा मारतां नै बचाया तिण नें कांई थयो?" तब स्वामीजी ने उत्तर दिया—"ज्ञान सूं समझाय ने हिंसा छोड़ायां तो धर्म छै[2]।"

आचार्य भिक्षु ने स्थान-स्थान पर "संसार रो मार्ग[3], लोक रो मार्ग, संसार रो उपकार[4], संसार रा काम[5], लौकिक दया[6], लोक रो

१—भिक्षु-दृष्टान्त १४८

२—भिक्षु-दृष्टान्त २६

३—भिक्षु-दृष्टान्त १२८

४—(क) भिक्षु दृष्टान्त १२७

(ख) ज्ञान, दर्शन, चारित्र बिना और मुक्ति रो नहीं उपाय।
छोड़ां मेलां उपगार संसार ना तिण थी शुद्ध गति किण विध थाय॥
—अनुकम्पा चौपई ४।१७

(ग) जीवने जीवां बचाविया, ए तो संसार तणो उपगार।
—अनुकम्पा चौपई १२।६०

५—ए च्यार उपगार छै मोट का, तिण मैं निश्चय जाणो धर्म।
शेष रह्या काम संसार ना, तिण कीधां बंध सी कर्म॥
—अनुकम्पा चौपई ४।२२

६—एक नाम दया लौकीक री""। —अनुकम्पा चौपई ८।५

छांदो[1] मुक्ति-धर्म नहीं, मोक्ष-धर्म नहीं आदि-आदि शब्दों का व्यवहार किया है। आज हम लौकिक कर्तव्य, लौकिक उपकार, लौकिक दया, लौकिक धर्म, लौकिक पुण्य; लौकिक दान आदि-आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनका आधार आचार्य भिक्षु के उपर्युक्त शब्द-प्रयोग हैं।

दया और दान लौकिक हो सकते हैं, उपकार और कर्तव्य लौकिक हो सकते हैं, देव और गुरु लौकिक हो सकते हैं तब धर्म और पुण्य लौकिक क्यों नहीं हो सकते?

धर्म शब्द के विविध प्रयोग

भगवान् महावीर ने तीन प्रकार के व्यवसाय बताए हैं[2] :—

(१) लौकिक।

(२) वैदिक।

(३) सामयिक।

लौकिक व्यवसाय के तीन भेद हैं[3]—धर्म, अर्थ और काम। यहाँ धम शब्द का अर्थ है—समाज कर्तव्य। अर्थ और काम जैसे लौकिक होते हैं, वैसे यह धर्म भी लौकिक है। मोक्ष-धर्म के तीन भेद—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—सामयिक व्यवसाय के अन्तर्गत किये हैं[4]। समाज-कर्तव्य के

१—अव्रत में दे दातार, ते किम उतरे भव पार।
छांदो इण लोक रो ए, मार्ग नहीं मोख रो ए॥

—व्रताव्रत चौपाई ५।१२

२—तिविहे ववसाये पन्नत्ते तंजहा—धम्मिएव, अधम्मिएव, धम्माधम्मिएव।
इहलोगिते ववसाये तिविहे पन्नते तंजहा लोगिते, वेविते, सामविते।

—स्थानांग ३।३।१८४

३—लोगिए ववसाए तिविहे पन्नते तंजहा—अत्थे, धम्मे, कामे।

—स्थानांग ३।३

४—सामयिए ववसाये तिविहे पन्नते तंजहा—णाणे, दंसणे, चरित्ते।

—स्थानांग ३।३

लिए 'लौकिक धर्म' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी हुआ है। मनुस्मृति में जाति-धर्म, वैश्य-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म, राज्य धर्म आदि अनेक प्रकार के धर्म बताए हैं[1]। प्रमाण-मीमांसा में आप्त यानी विश्वासी पुरुष के दो भेद होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। पौराणिक साहित्य में भक्ति तीन प्रकार की बताई है—लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक भक्ति को ही 'परा भक्ति' माना है।

"भीष्म—मनुष्यों में कैसे लोग ब्रह्मभक्त होते हैं ?

राजन्! भक्ति तीन प्रकार की कही गई है—लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक।"

लौकिक

गाय के घी, दूध और दही, रत्न, दीप, कुश, जल, चन्दन, माला, विविध धातुओं तथा पदार्थों से कलित, अगर की सुगन्ध से युक्त एवं घी और गुग्गुल से बने हुए धूप, आभूषण, सुवर्ण और रत्न आदि से निर्मित हार, नृत्य, वाद्य और संगीत, सब प्रकार के जंगली फल-फूलों का उपहार तथा भक्ष्य, भोज्यादि नैवेद्य अर्पण करके मनुष्य ब्रह्माजी को उद्दिष्ट कर जो पूजा करता है; वह लौकिक भक्ति मानी गई है।

वैदिक

ऋग् आदि वेद-मन्त्रों का जप, संहिताओं का अध्यापन आदि कार्य ब्रह्माजी के उद्देश्य से किये जाते हैं; वह वैदिक भक्ति है।

आध्यात्मिक

इसके दो भेद हैं—सांख्यज और योगज।

सांख्यज—संख्यापूर्वक प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को ठीक-ठीक जानना।

योगज—"प्राणायामपूर्वक ध्यान, इन्द्रियों का संयम और मन को समस्त इन्द्रियों के विषयों से हटाकर ब्रह्म-स्वरूप का चिन्तन करना; यही ब्रह्माजी के प्रति 'परा भक्ति' मानी गई है[2]।"

१—८।४१

२—पद्मपुराणांक (सृष्टि-खण्ड) पुष्कर तीर्थ की महिमा से पृष्ठ ७८

स्थानांग में दस प्रकार के धर्म बताए हैं। उनमें आत्म-संशोधक धर्म के सिवाय गाँव; नगर, राष्ट्र आदि के आचार, व्यवस्था आदि को धर्म कहा गया है। यशस्तिलक चम्पू में शोमदेव सूरि ने धर्म के दो भेद माने हैं—लौकिक और लोकोत्तर। इन्द्रनंदी संहिता में भी धर्म के ये लौकिक और लोकोत्तर दो भेद माने हैं। बाह्य शुद्धि के लिए लौकिक और आभ्यन्तर शुद्धि के लिए लोकोत्तर धर्म बताया है। दशवैकालिक निर्युक्ति में गम्य-धर्म, पशु-धर्म, पुरवर-धर्म, ग्राम-धर्म, गोष्ठी-धर्म, गण, राज्य आदि के धर्म को लौकिक धर्म कहा है।

चार पुरुषार्थ में धर्म और मोक्ष अलग-अलग हैं। धर्म के दो रूप लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म की ओर संकेत जताते हैं। लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य (पृष्ठ ६४-६६) में इसका सुन्दर विवेचन किया है। उनका कुछ अंश यूँ है—

······"राजधर्म, देशधर्म प्रजाधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, मित्रधर्म इत्यादिक सांसारिक बन्धनों को भी धर्म कहते हैं।

······पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है', उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तात्कालीन समाज-व्यवस्था शास्त्र का ही अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्द्ध में 'मोक्ष धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है।

जैन धर्म और वर्ण-व्यवस्था (पृष्ठ ११) में पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने लिखा है—"धर्म शब्द मुख्यतया दो अर्थों में व्यवहृत होता है—एक व्यक्ति के जीवन संशोधन के अर्थ में, जिसे हम आत्म-धर्म कहते हैं और दूसरा समाज-कर्तव्य के अर्थ में। मनु स्मृतिकार ने इन दोनों अर्थों में धर्म शब्द का उल्लेख किया है। वे समाज-कर्तव्य को वर्ण-धर्म और दूसरे को सामान्य धर्म कहते हैं।"

किस्तूर साव जी जैन ने धर्म के दो रूप बताते हुए लिखा है—"कर्तव्य का ही दूसरा नाम धर्म है। धर्म दो प्रकार का है—एक को मोक्ष-धर्म या निश्चय-धर्म कहते हैं और दूसरे को व्यवहार-धर्म या श्रावक-धर्म कह सकते हैं। पहले धर्म का आदर्श विशिष्ट ध्येय या स्वाभाविक पद की प्राप्ति है। दूसरे का आदर्श यह है कि हमें संसार में क्या करना चाहिए व हम क्या कर सकते हैं। समाज में हमारा स्थान क्या है व हमें हमारे उत्तरदायित्व को किस तरह निभाना चाहिए[1]।"

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने धर्म शब्द के अनेक अर्थ-प्रयोग बताते हुए लिखा है—"इस तरह के रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानून की हैसियत रखते हैं, बहुत तरह के हो सकते हैं जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशेवर लोगों के संगठन को उस समय श्रेणी और युग भी कहते थे और उनके व्यवहार श्रेणी-धर्म या युग-धर्म कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्य के धर्म-शास्त्रों में एवं कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में राजा को हिदायत दी गई है कि वह इस तरह के अलग-अलग धर्मों या रिवाज में आने वाले अमल दस्तूरों को मान्यता दे। धर्म शब्द का यह अर्थ लगभग कानून जैसा है[2]।

आचार्य नागसेन ने धर्म-ध्यान की व्याख्या में धर्म शब्द के अनेक अर्थ किए हैं[3] :—

१—भगवान् महावीर और उनका संदेश–ले० श्री किस्तूर साव जी जैन B. A., B. T.—अनेकान्त वर्ष ८ अंक ६।७

२—नया समाज

३—(क) आत्मनः परिणामो यो, मोहक्षोभविवर्जितः।
स च धर्मानपेतं तत, तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥

(ख) शून्यीभवदिदं विश्वं, स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद् वस्तु-स्वरूपं हि, प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥

(ग) ततोऽनपेतं यज्जातं (नं), तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्य-मित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

(घ) यस्तूत्तमक्षमादिः स्या-द्धर्मो दशतया परः।
ततोऽनपेतं यद् ध्यान, तद्धर्म्यमितीरितम् ॥ ५५ ॥ —तत्त्वानुशासन

(१) आत्मा का निर्मोह परिणाम।

(२) वस्तु-स्वरूप।

(३) वस्तु-याथातम्य।

(४) क्षमा आदि उत्तम गुण।

लगभग ऐसे ही अर्थ न्यायकुमुद-चन्द्रकार ने किए हैं[1]।

शब्द-रचना की प्रक्रिया

शब्द का मूल अर्थ पाने के लिए जैन आगम हमें निक्षेप-विधि देते हैं। हम प्रयुज्यमान शब्द के द्वारा किस अर्थ को बताना चाहते हैं, इस व्यावहारिक धर्म को स्पष्ट करना निक्षेप का ही काम है। 'लोक-धर्म' शब्द की योजना जो हमें आगम सूत्र और उनके उत्तरवर्ती साहित्य में मिलती है, का आधार निक्षेप-पद्धति ही है। लौकिक पुण्य शब्द की रचना का आधार भी वही है। 'लौकिक धर्म' और 'लौकिक पुण्य' शब्द मन-कल्पित या भ्रम में डालने वाले नहीं हैं। एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—"जो साधु व्रत नहीं पालते, 'साधु का वेश पहने हुए हैं, उन्हें आप साधु क्यों कहते हैं?" आचार्य भिक्षु ने उत्तर देते हुए कहा—"जो साधुपन नहीं निभाता किन्तु साधु का नाम धराता है, वह द्रव्य निक्षेप की दृष्टि से साधु ही कहलाएगा[2]।"

धर्म शब्द के निक्षेप करते चलिए—(१) नाम-धर्म (२) स्थापना-धर्म (३) द्रव्य-धर्म, भाव-धर्म। द्रव्य धर्म के दो भेद होते हैं—आगमतः-द्रव्य धर्म और नो-आगमतः द्रव्य-धर्म। आगमतः-द्रव्य-धर्म के दो भेद होते हैं—ज्ञातृ-शरीर-धर्म और भव्य-शरीर-धर्म। नो-आगमतः-द्रव्य-धर्म तद्व्यतिरिक्त कहलाता है। इस (नो-आगमतः-तद्व्यतिरिक्त-द्रव्य धर्म) के तीन भेद होते हैं—(क) लौकिक धर्म (ख) कुप्रावचनिक धर्म और (ग) लोकोत्तर धर्म। भाव-धर्म के दो भेद होते हैं—आगमतः-भाव-धर्म और नो-आगमतः-भाव-धर्म। नो-

---

१—धर्मः सद्वेद्यायुर्नामगोत्रलक्षणं पुण्यम्, उत्तमक्षमादिस्वरूपो वा, तत्साध्यः कर्तृशुभफलदः पुद्गलपरिणामो वा, जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वभावो वा।
—न्यायकुमुदचन्द्र १।१

२—साधपणो न पाले ने साधु नाम धरावै, ते द्रव्य निक्षेपा रे लेखै साधु इज बाजै।—भिक्षु-दृष्टान्त ९८

आगमतः-भाव धर्म के तीन भेद होते हैं—लौकिक धर्म, कुप्रावचनिक धर्म और लौकोत्तर धर्म। इस शब्द-रचना के लिए अनुयोग-द्वार का निक्षेप प्रकरण द्रष्टव्य है। सूत्र कृतांग की निर्युक्ति और वृत्ति में धर्म शब्द के निक्षेप इस प्रकार हैं। —

धर्म के नाम, स्थापना द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप होते हैं[1]। नाम, स्थापना को छोड़ दें। द्रव्य धर्म के तीन भेद हैं—ज्ञ-शरीर, भव्य शरीर और तद्-व्यतिरिक्त। तद्-व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। जीवच्छरीर का जो लक्षण है उपयोग, वह सचित्त द्रव्य-धर्म है। अचित्त का जो स्वभाव है, वह अचित्त द्रव्य-धर्म है। मिश्र द्रव्य—दूध पानी का जो स्वभाव है, वह मिश्र द्रव्य-धर्म है। गृहस्थों का जो कुल, नगर, ग्राम आदि का धर्म है अथवा गृहस्थों का गृहस्थों को जो दान धर्म है, वह द्रव्य-धर्म है।

भाव-धर्म के दो भेद हैं—(१) लौकिक (२) लोकोत्तर। लौकिक के दो भेद हैं—(१) गृहस्थ-धर्म (२) पाखण्ड धर्म। लोकोत्तर धर्म के तीन भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। यह धर्म ही परमार्थ दृष्टि से धर्म है। यही भाव-समाधि और भाव-मार्ग है। धर्म के दो भेद हैं—श्रुत और चारित्र अथवा इसके क्षमा आदि दस भेद हैं। भाव-समाधि का रूप भी ऐसा ही है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक मुक्ति मार्ग ही भाव-धर्म है।

पुण्य शब्द पर भी निक्षेप करते-करते हमें लौकिक पुण्य, कुप्रावचनिक पुण्य और लोकोत्तर पुण्य ऐसी रचना करनी होगी। धर्म और पुण्य का ही क्या, जितने भी सार्थक शब्द हैं, उन सबके लिए यह प्रक्रिया है। इसके आधार पर लौकिक आवश्यक, लौकिक सामयिक, लौकिक मंगल, लौकिक विनय, लौकिक सेवा, लौकिक उपकार, लौकिक दान, लौकिक दया आदि शब्द-भण्डार की सृष्टि होती है और ये सब विशेषण शब्द अपना अभिप्रेत अर्थ बताने की पूरी क्षमता रखते हैं।

१—धम्मो पुव्वदिट्ठो, भाव धम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मे, एसेव समाहिमग्गोत्ति ॥ ९९ ॥
णाम ठवणा धम्मो, दव्व धम्मो य भाव धम्मो य।
सचित्ताचित्तमीसग, गिहत्थ दाणे दविय धम्मो ॥१००॥—सूत्रकृतांग निर्युक्ति

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धाधर्मस्य निक्षेपः। तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्तो द्रव्यधर्मः सचित्ताचित्त-मिश्रभेदात् त्रिधा तत्रापि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्य उपयोगलक्षणो धर्मः—स्वभावः, एवमचित्तादीनामपि धर्मास्तिकायादीनां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्मः इति-तथाहि—

गइलक्खणो उधम्मो, अहम्मो ठाण लक्खणो।
भायणं सव्व दव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ १ ॥

मिश्र द्रव्याणाञ्च क्षीरोदकादीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्यः। गृहस्थानाञ्च यः कुलनगरग्रामादिधर्मो, गृहस्थेभ्यो वा गृहस्थानां यो दानधर्मः स द्रव्य धर्मोऽवगन्तव्यः।

लोइय लोउतरिओ, दुविहो पुणहोति भाव धम्मोउ।
दुविहोवि दुविह तिविहो, पंचविहो होति णायव्वो ॥

—सूत्र कृतांग निर्युक्ति १०१ ॥

भावधर्मो नो-आगमतो द्विविधः—यद्यथा-लौकिको लोकोत्तरश्च। तत्र लौकिको द्विविधः—गृहस्थानां पाखंडिकानाञ्च। लोकोत्तर-स्त्रिविधः—ज्ञानदर्शन चारित्र भेदात्-एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति—एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवति।.........धर्मः श्रुतचारित्राख्यः, क्षान्त्यादि लक्षणो वा दशप्रकारो भवेत्, भावसमाधिरप्येवंभूत एव।

......तदेवं मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो भावधर्मतया व्याख्यातयितव्यः। —सूत्र कृतांग-वृत्ति १।९

छठा अध्याय

* दशविध धर्म
* तीन प्रकार के धर्म
* अध्यात्म-धर्म और लोक-धर्म का पृथक्करण
* विरोध की जड़
* सुखवादी दृष्टिकोण
* अध्यात्मवादी दृष्टिकोण
* मूल्यांकन के सापेक्ष दृष्टिकोण
* उठो और उठाओ—जागो और जगाओ

दशविध धर्म[1]

(१) ग्राम-धर्म[2]—गाँव का आचार या व्यवस्था अथवा विषय-भोग की अभिलाषा।

(२) नगर-धर्म—नगर की व्यवस्था।

(३) राष्ट्र-धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था।

(४) पाखण्ड-धर्म—पाखण्ड का आचार।

(५) कुल-धर्म—कुल की व्यवस्था।

(६) गण-धर्म—गण की व्यवस्था।

(७) संघ-धर्म—संघ की व्यवस्था।

(८) श्रुत-धर्म[3]—श्रुत-धर्म

(९) चारित्र-धर्म—चारित्र-धर्म।

(१०) अस्तिकाय-धर्म—अस्तिकाय-धर्म।

दशविध श्रमण-धर्म[4]

(१) क्षमा

(२) मुक्ति

(३) आर्जव

(४) मार्दव

(५) लाघव

(६) सत्य

१—स्थानांग १०।७६०

२—ग्रामाः—जनपदाश्रयाः, तेषां तेषु वा धर्मः—समाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः, स च प्रतिग्रामं भिन्नः अथवा ग्रामः—इन्द्रियग्रामः रूढ़ेः, तद्धर्मः—विषयाभिलाषः

—स्थानांगवृत्ति १०।७६०

३—श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गतिप्रपज्जीवधारणात् धर्मः—श्रुतधर्मः।

—स्थानांग-वृत्ति १०।७६०

४—स्थानांग १०।७१२

(७) संयम-त्याग

(८) ब्रह्मचर्य

(९) आकिञ्चन्य

(१०) शौच

तीन प्रकार के धर्म[1]

(१) श्रुत-धर्म।

(२) चारित्र-धर्म।

(३) अस्तिकाय-धर्म।

श्रुत और चारित्र ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख के निश्चित उपाय हैं, इसलिए निरूपचरित धर्म हैं[2]। सामाजिक सुख के अर्थ में धर्म शब्द उपचरित है।

आत्म-धर्म और लोक-धर्म

संयम और तपस्या, ये दोनों आत्म-धर्म हैं। अथवा यूं कहना चाहिए—मुनि-धर्म आत्म-धर्म है। मुनि आत्म-धर्म के लिए प्रव्रजित होता है[3]। गृहस्थ का आत्म-धर्म मुनि-धर्म का ही अंग है। वह उससे पृथक् नहीं है। अणुव्रत महाव्रत की ही स्थूल आराधना है।

आत्म-धर्म मोक्ष की साधना है और लोक-धर्म व्यवहार का मार्ग। मोक्ष की साधना में विश्वास नहीं करते, उनके लिए आत्म-धर्म और लोक-धर्म—ऐसे दो विभाग आवश्यक नहीं होते। किन्तु जो आत्मवादी हैं। संसार से मोक्ष की ओर प्रगति करना—बन्धन से मुक्ति की ओर जाना जिनका लक्ष्य है, वे संसार और मोक्ष की साधना का विवेक किये बिना चल ही नहीं सकते। मुनि

१—तिविहे धम्मे—सुय धम्मे, चरित्त धम्मे, अत्थिकाय धम्मे।

—स्थानांग ३।३।१८८

२—स्थानांग-वृत्ति

३—(क) सूत्र कृतांग २।२।

(ख) इहलोगपरलोग अप्पडिबद्धा, संसारपारगामि, कम्मणिग्घायणट्ठाए, अब्भुट्ठिया विहरंति। —औपपातिक तपस्या-वर्णन

केवल आत्म-धर्म की साधना लिए चलते हैं। गृहस्थ समाज की शृंखला से बंधा हुआ होता है, इसलिए वह केवल आत्म-धर्म का पालन करने वाला ही नहीं होता। वह लोक-धर्म की मर्यादाओं को भी निभाता है। कुमार ऋषभ के विवाह का प्रसंग देखिए। आचार्य जिनसेन लिखते हैं :—

पश्यन् पाणिगृहीत्यौ ते, नाभिराजः सनाभिभिः।
समं समतुषत् प्रायः, लोकधर्मप्रियोजनः॥ १५।७

महाराज नाभिराज अपने परिवार के लोगों के साथ दोनों पुत्र वधुओं को देखकर भारी सन्तुष्ट हुए, सो ठीक ही है। क्योंकि संसारी जनों को विवाह आदि लोक-धर्म ही प्रिय होता है।

कुमार ऋषभ से विवाह करने के लिए प्रार्थना करते समय कहा जाता है—

"प्रजासन्तत्यविच्छेदे, तनुते धर्मसंततिः।
मनुष्व मानवं धर्मं, ततो देवेममच्युत॥

"प्रजा की संतति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की संतति बढ़ती रहेगी, इसलिए हे देव! मनुष्यों के इस अविनाशिक विवाह रूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए[1]।"

देवेमं गृहिणां धर्मं, विद्धि दारपरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्नः, कार्यो हि गृहमेधिनाम्॥" १५।६४॥

हे देव! आप इस विवाह-कार्य को गृहस्थों का एक धर्म समझिए। क्यों कि गृहस्थों को सन्तान की रक्षा में प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए।

इस प्रसंग में आये हुए लोक-धर्म, मानव-धर्म और गृहि-धर्म—तीनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं। बहुधा कहा जाता है—आत्म-धर्म और लोक-धर्म—ऐसे दो भेद तेरापंथ के आचार्यों ने—विशेषतः आचार्य श्री तुलसी ने किये हैं। उन्हें आचार्य जिनसेन (जो विक्रम की सातवीं सदी में हो चुके हैं) के शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। कोई भी जैनाचार्य विवाह को धर्म नहीं मानते।

१—महापुराण १५।६३ अनुवादक—पन्नालाल साहित्याचार्य।

लोक-दृष्टि से वह बुरा कार्य भी नहीं है, इसलिए उसे लोक-धर्म कहा गया। आचार्य हेमचन्द्र इसे व्यवहार पथ कहते हैं[1] :—

"तथापि नाथ ! लोकानां, व्यवहारपथोऽपि हि।
त्वयैव मोक्षवर्त्मेव, सम्यक् प्रकटयिष्यते ॥ ७६३ ॥
तल्लोक व्यवहाराय, पाणिग्रहण-महोत्सवम्।
विधीयमानं भवतेच्छामि नाथ ! प्रसीद मे ॥ ७६४ ॥
दर्शनीया स्थितिर्लोके, भोक्तव्यं भोग्यकर्म च।
अस्ति मे चिन्तयित्वैव, मन्वमन्यत तद्वचः ॥ ८२५ ॥
ततः प्रभृति सोद्वाह-स्थितिः स्वामिप्रवर्तिता।
प्रावर्तत परार्थाय, महतां हि प्रवृत्तयः ॥ ८८१ ॥

.........नाथ ! "आप जैसे मोक्ष-मार्ग का प्रवर्तन करेंगे, वैसे व्यवहार मार्ग का प्रवर्तन भी आपसे होगा। अतः लोक-व्यवहार चलाने के लिए आप विवाह करें। लोक-मर्यादा की नींव डालें।"

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्म-हित की और शरीर-हित की बड़े मार्मिक शब्दों में विश्लेषणा की है। महात्माजी ने उनसे पूछा कि "सर्प काटने आवे तो उस समय हमें स्थिर रहकर उसे काटने देना उचित है या मार डालना ?"

श्रीमद् राजचन्द्र ने उत्तर दिया कि "इस प्रश्न का मैं यह उत्तर दूं कि सर्प को काटने दो तो बड़ी समस्या आकर उपस्थित होती है। तथापि तुमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' तो फिर इस असार शरीर की रक्षार्थ उसे मारना क्यों कर उचित हो सकता है, जिसकी कि शरीर में प्रीति है, मोह बुद्धि है ?

जो आत्म हित के इच्छुक हैं, उन्हें तो यही उचित है कि वे शरीर से मोह न कर उसे सर्प के अधीन कर दें। अब तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्म हित न करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? तो उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियों में परिभ्रमण करना चाहिए। उसे यह उपदेश कैसे दिया जा सकता है कि वह सर्प को मार डाले। अनार्य वृति के द्वारा सर्प के मारने

1—त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र १।२

का उपदेश किया जाता है, पर हमें तो यही इच्छा करनी चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्न में भी न हो[1] ।"

डॉ० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार—"भारत वर्ष में एक ओर धर्म शब्द का अर्थ होता है—कठोर संयम के धारी महात्माओं के अनुभव और दूसरी ओर उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुयायी समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाले व्यावहारिक नियम। अर्थात् धर्म के दो रूप हैं—एक सैद्धान्तिक या आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक या सामाजिक[2] ।"

सांख्य दर्शन में भी ऐसी व्यवस्था मान्य हुई है[3] ।

बौद्ध प्रवचन में धर्म शब्द

बौद्ध दर्शन में धर्म शब्द इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

(१) स्व-लक्षण धारण।

(२) कुगति-गमन-विधारण।

(३) पाञ्चगतिक-संसार-गमन-विधारण।

पहले में सास्रव और अनास्रव सभी कार्य धर्म कहलाते हैं। इसकी वस्तु-स्वभाव धर्म के साथ तुलना होती है।

दूसरे में 'दश कुशल' को धर्म कहा गया है।

तीसरे में धर्म का अर्थ है—निर्वाण[4] ।

१—आत्म-सिद्धि नामक पुस्तक के प्रारम्भ में जो सं० १८७५ में बम्बई में प्रकाशित हुई थी।

२—परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना पृ० १००

३—सांख्य दर्शन ५।२५—सांख्यकारिका २३ माठर वृत्ति

४—आत्मसंयमकं चेतः परानुग्राहकञ्च यत्।
मैत्रं स धर्म तद् बीजं, फलस्वप्रेत्यचेहच ॥

……धर्म शब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः- स्वलक्षणधारणार्थेन, कुगति-गमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन। तत्र स्वलक्षणधारणार्थेन सर्वे सास्रवा अनास्रवाश्च धर्मा इत्युच्यन्ते, कुगतिगमनविधारणार्थेन च दशकुशलादयो धर्मा इत्युच्यन्ते—"धर्मचारी सुखं शेते, अस्मिंल्लोके परत्र च।" पाञ्चगतिकसंसारविधारणार्थेन निर्वाणो धर्म इत्युच्यन्ते। धर्मं शरणं गच्छति—इत्यत्र कुगतिगमनविधारणार्थेनैव धर्म शब्दोऽभिप्रेतः।

—माध्यमिक वृत्ति पृ० ३०३-३०४

अश्वघोष ने धर्म की द्विविधता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

"उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय ! मृत्युभीत ! चरस्व धर्मं, त्यज मोक्षधर्मम्[१] ।"

यहाँ बुद्ध को मोक्ष-धर्म को छोड़ क्षात्र-धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा दी जा रही है।

गीता में जाति-धर्म, कुल-धर्म आदि प्रयोग मिलते हैं—अर्जुन ने धर्म का प्रयोग रीति-रिवाज के अर्थ में किया है[२] । कृष्ण ने धर्म का प्रयोग कर्तव्य के अर्थ में किया है[३] ।

मनुस्मृति में दण्ड को धर्म कहा गया है :—

"दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः[४] ॥ ७ ॥

धर्म शब्द के प्रयोगों की जटिलता के कारण ही मोक्ष-धर्म का लक्षण लोक-धर्म से भिन्न करना पड़ा । थोड़े में वह है—आत्मा का वीतराग-भाव या भाव-विशुद्धि[५] ।

१—अश्वघोष कृत-बुद्ध चरितम्

२—गीता १।४३

३—गीता २।३२।३३

४—मनुस्मृति

५—भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मुभणी विणु लेहु ।
चउगइ दुक्खहं जो धरइ, जीउ पडं तउ ऐहु ॥ ६८ ॥

"संसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्र नागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्ष पदे धरतीति धर्मः इति ।"

......अहिंसालक्षणो धर्मः, सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न सम्भवति । सागारानागारलक्षणो धर्मः, सोऽपि तथैव । उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः; सोपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । सद्दृष्टि—ज्ञान-वृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः । इत्युक्तं यद् धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेष मोहरहितः परिणामो धर्मः, सोपि जीवशुद्धस्वभाव एव । वस्तु स्वभावो धर्मः सोपि तथैव तथा चोक्तम् "धम्मो वत्थु सहावो" इत्यादि एवं गुणविशिष्टो धर्मः चतुर्गतिदुःखेषु पतन्तं धरतीति धर्मः । —परमात्म-प्रकाश २।६८ पृ० २१०-२११

अध्यात्म-धर्म और लोक-धर्म का पृथक्करण

आचार्य भिक्षु ने जो दृष्टिकोण दिया उसमें समस्याओं का बौद्धिक समाधान सन्निहित है। इसलिए वे सही अर्थ में धर्मक्रान्ति के महान् सूत्रधार थे। समाज-धारणा के और आत्म-साधना के धर्म को एक मानने के कारण जो जटिल स्थितियां पैदा होती हैं, उनका सही समाधान इनका पृथक्करण ही है। आज का बुद्धिवादी वर्ग इस विभाजन को बड़ी सरलता से मान्य करता है। पं० लक्ष्मण शास्त्री तर्क तीर्थ ने श्री ह० कु० मोहिनी के इस पृथक्कतावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए लिखा है—"इस बटवारे को हम भी पसन्द करते हैं।

धर्म अर्थात् समाज-धारणा के नियम अथवा सामाजिक जीवन के कानून कायदे। ये कायदे समाज-संस्था के प्राण होते हैं। ये ही कायदे जैमिनी का कहा हुआ चोदना-लक्षण धर्म है। इसलिए पूर्व-मीमांसा समाज-धारणाशास्त्र है। आध्यात्मिक शास्त्र समाज-धारणाशास्त्र से भिन्न है। अध्यात्म-शास्त्र आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग और मोक्ष का विचार करता है। उत्तर-मीमांसा अध्यात्म शास्त्र है। आध्यात्म वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक। यज्ञ-संस्कार, वर्णाश्रम धर्म समाज-धारक धर्म है। समाज-धारणा-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र—उन दोनों की पूरी फारखती हो जानी चाहिए[1]।

महात्मा गांधी भी राष्ट्र की नीति या व्यवस्था को धर्म का चोगा नहीं पहनाते थे। उन्होंने 'हरिजन' में लिखे एक लेख में बताया है—"यदि मैं तानाशाह होता तो धर्म और राष्ट्र को अलग-अलग कर देता। मैं शपथ के साथ कह सकता हूँ कि धर्म के लिए मरने को तैयार हूँ, परन्तु यह मेरा व्यक्तिगत मामला है। इसका राष्ट्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

एक प्रचारक मित्र (पादरी) के प्रश्न के उत्तर में यह विचार महात्मा गांधी द्वारा प्रगट किया गया। उक्त मित्र पादरी ने प्रश्न किया था कि क्या स्वतन्त्र भारत में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता होगी? और क्या धर्म-राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातों की देखभाल करेगा और क्या मेरे या आपके धर्म की देखभाल नहीं करेगा?

१—हिन्दू धर्म समीक्षा पृष्ठ ७०

विरोध की जड़

अधिकांशतया विरोध शब्दो में रहता है, तत्त्व में नहीं। मोह को, मोह-अन्वित दया को प्रायः सभी आस्तिक दर्शन बन्धन मानते हैं[1]। साधना का

१—असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्। —सांख्य सूत्र

यज्ञ याग आदि श्रौत कार्यों को भी बन्धन माना है। जैसे—कर्म करने से जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता रहता है। बुद्धिहीन आदमी ही इन कर्मों की प्रशंसा करते हैं। इससे उन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। (मुण्डक उपनिषद् १।२।७। महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २४१।१।१०

इसका विस्तृत रूप है—महाभारत शान्ति-पर्व अध्याय २४१ में शुकदेव ने कर्म और ज्ञान का स्वरूप पूछते हुए व्यासजी से प्रश्न किया है— "पिताजी! वेद में ज्ञानवान् के लिए कर्मों का त्याग और कर्मनिष्ठ के लिए कर्मों का करना, ये दो विधान है। किन्तु कर्म और ज्ञान—ये दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल हैं अतएव मैं जानना चाहता हूँ कि कर्म करने से मनुष्य को क्या फल मिलता है और ज्ञान के प्रभाव से कौनसी गति मिलती है।......व्यासजी ने उक्त प्रश्न का जवाब देते हुए कहा—"वेद में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के धर्म बतलाए गए हैं। कर्म के प्रभाव से जीव संसार के बन्धन में बंधा रहता है। इसीलिए पारदर्शी संन्यासी लोग कर्म नहीं करते। कर्म करने से जीव फिर जन्म लेता है किन्तु ज्ञान के प्रभाव से जीव नित्य अव्यक्त, अव्यय परमात्मा को प्राप्त होजाता है"। मूढ़ लोग कर्म की प्रशंसा करते हैं, इसी से उन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। जो मनुष्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो कर्म को भलिभाँति समझ लेता है, वह जैसे नदी के किनारे वाला मनुष्य कुओं का आदर नहीं करता, वैसे ही कर्म की प्रशंसा नहीं करता।"

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—"तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि-कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेताय बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः। —सुकृतास्य लोके ॥ १।२।१

प्लावा ह्येयते अदृढा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापयन्ति ॥ १।२।७ ॥

मार्ग, मोक्ष का मार्ग या आत्म-शुद्धि का मार्ग वही है; जहाँ राग-द्वेष की परिणति नहीं होती। राग द्वेष बन्धन है। इनसे संसार बढ़ता है, जन्म-मरण की परम्परा लम्बी चलती है। जो मुक्ति चाहते हैं, उनके लिए ये दोनों बाधक हैं।

हम कह सकते हैं—मोह संसार है, निर्मोहदशा मुक्ति है। संसारी व्यक्ति मोह की दृष्टि से देखता है, मोह की भाषा में बोलता है; इसलिए साधना के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य नहीं। साधक का दृष्टिकोण, उसकी वाणी और व्यवहार समतापूरित होता है, इसलिए वह संसारी व्यक्ति को प्रिय नहीं लगता। वह प्रिय लगता भी है; पर सिर्फ उसीको, जो कुछ साधना का भाव रखे।

सुखवादी दृष्टिकोण

वर्तमान दृष्टिकोण मुख्यतया प्रत्यक्ष परक है। आज के अधिकांश आस्तिक और नास्तिक, आत्मवादी या अनात्मवादी के दृष्टिकोण में कोई भेद नहीं लगता। दोनों की दृष्टियां सिर्फ वर्तमान को सुखी बनाने तक सीमित हैं, इसलिए सब व्यावहारिक दर्शन चाहते हैं। आध्यात्मिक दर्शन उन्हें अव्यावहारिक जैसा लगता है। वे प्रत्येक वस्तु को समाज की उपयोगिता की दृष्टि से आंकते हैं। उनकी दृष्टि का एकमात्र केन्द्र समाज की वर्तमान सुख-सुविधा है। वह जिससे बढ़े, वह दर्शन अच्छा और जिससे वह न बढ़े, वह दर्शन किस काम का? यह दृष्टिकोण रहते उन्हें अध्यात्म-दर्शन की परिभाषाएं अटपटी लगें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

अर्थात्—वैदिक मन्त्रों में जिन याज्ञिक कर्मों का विधान है, वे निःसन्देह त्रेता युग में ही बहुधा फलदायक होते हैं। उन्हें करने से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। इससे मोक्ष की सिद्धि नहीं होती क्योंकि ये यज्ञ रूपी नौकाएं, जिनमें अठारह प्रकार के कर्म जुड़े हुए हैं; संसार-सागर से पार करने के लिए असमर्थ हैं। जो नासमझ लोग इन याज्ञिक कर्मों को कल्याणकारी समझ कर इनकी प्रशंसा करते हैं उन्हें पुनः पुनः जरा और मृत्यु के चक्कर में पड़ना पड़ता है।

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

अध्यात्मवादी इस 'अति' को श्रेयस्कर नहीं मानता। यह सही है कि समाज की आवश्यकताओं को भुलाया नहीं जा सकता किन्तु उन्हीं को सब कुछ मानकर चले, वह कैसा आत्मवादी ! समाज की अपनी मर्यादा है और धर्म या अध्यात्म की अपनी। दोनों को एक ही मानकर चले, वह भूल है। समाज में विवाह की मर्यादा है किन्तु अध्यात्मवाद ब्रह्मचर्य से हटकर विवाह करने को कब अच्छा मानेगा। उसकी ब्रह्मचर्य ही प्रतिष्ठा है। समाज-व्यवस्था में यथावकाश हिंसा भी क्षम्य है, असत्य भी प्रयुज्य है, चोरी भी व्यवहार्य है, धन-संग्रह भी स्वीकार्य है। अध्यात्मवाद कभी, कहीं और किसी भी स्थिति में हिंसा को क्षम्य नहीं मानता। असत्य, चोरी और धन-संग्रह के लिए भी ऐसा ही समझिए। समाज के पास न्याय या दण्ड की व्यवस्था है और अध्यात्म-वाद के पास है—अहिंसा और उपदेश या हृदय-परिवर्तन। न्यायाधीश अपराधी को मौत की सजा देता है, यह समाज का न्याय है। अध्यात्मवाद कहता है—यह हिंसा है। दण्ड-विधान के अनुसार वह उचित है तब हिंसा क्यों ? ऐसा प्रश्न आता है किन्तु "किसी एक को दण्ड देने का किसी दूसरे को अधिकार है,—यह तत्त्व अध्यात्मवाद स्वीकार ही नहीं करता। पाप करने वाला ही यदि हृदय से चाहे तो पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है, दूसरा पाप का दण्ड देने वाला कौन ? समाज पाप को नहीं धो सकता, प्रायश्चित्त नहीं करा सकता। वह पापी को कष्ट दे सकता है, बुरे को बुराई का स्वाद चखा सकता है, इसमें कोई विवाद नहीं। न्याय और दण्ड-विधान समाज के धारक या पोषक तत्त्व हैं। अध्यात्मवाद इन्हें क्यों माने ? वह अपना प्राण लूटने वाले को भी मित्र मानने की बात जो कहता है। न्याय और दण्ड-विधान समाज की देश, काल, स्थिति के अनुकूल इच्छापोषित विचारधारा है। अहिंसा सार्वभौम है। इसलिए दोनों एक हों भी कैसे ?

विकट परिस्थितियों में समाज हिंसा को क्षम्य मानता है। धर्म की भाषा में वह अनिवार्य हिंसा है। किन्तु विकट परिस्थिति में हुई हिंसा अहिंसा होती है, यह कभी नहीं हो सकता। इस विषय पर महात्मा गाँधी के विचार मननीय हैं। वे एक प्रश्न के उत्तर में लिखते हैं :—

"उचित यह है कि सत्य के बलिदान पर किसी का हित साधने का मेरा कर्तव्य नहीं, सत्य का पालन ही सर्व का अत्यन्त हित है, ऐसा निश्चय कर उसका आग्रह रख पालन करें। वैसा करने वाले मनुष्य को ऐसी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो तब क्या करना, यह उसे अपने आप सूझ पड़ेगा। वास्तविक विकट प्रसंग में कोइ मनुष्य इस तरह असत्य का व्यवहार करता है तो समाज तो उसे उदारता से क्षमा दे देती है। धर्म का सूक्ष्म जानकार भी उसकी विकट परिस्थिति का खयाल कर इसके प्रति क्षमा बुद्धि से देखेगा, परन्तु उसने धर्म का आचरण किया अथवा ऐसे प्रसंग पर झूठ बोलना धर्म है—ऐसा नहीं कहेगा।

धर्म तो ऐसा ही कहता है कि प्राण देकर भी सत्य रखना चाहिए, सत्य की अपेक्षा दूसरे किसी को प्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता[1]।

व्यक्ति या समाज को अपनी आवश्यकताएं पूरी करनी पड़ती हैं—यह मानना स्वाभाविक है किन्तु आवश्यता-पूर्ति को मोक्ष-धर्म या अहिंसा मानकर बरता जाए—यह दोहरा पाप है।

युग प्रवर्तक भगवान् ऋषभ देव ने समाज और राज्य की व्यवस्था की। लोगों को उनका तत्त्व समझाया। उनके निर्वाह और श्रेयस् के लिए असि, मषि, कृषि की शिक्षा दी। क्या उन्होंने इसे मोक्ष साधना मानकर किया? नहीं। फिर प्रश्न होगा—कर्म-बन्धन जानते हुए। उन्होंने ऐसा क्यों किया? प्रजा के हित के लिए किया। प्रजा के नेता थे, इसलिए अपना कर्तव्य या दायित्व समझते हुए किया। इस पर आचार्य हेमचन्द्र के विचार देखिए—

"एतच्च सर्वं सावद्य-मपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः[2] ॥"

यह व्यवस्था-प्रवर्तन सावद्य—सपाप है फिर भी भगवान् ऋषभ देव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया। यह कोई नई बात नहीं है। निम्न पंक्तियों में यही प्रश्न महात्मा गाँधी के सामने आया। उन्होंने वही समाधान किया, जो कि एक अहिंसा के मर्म को समझने वाला कर सकता है।

१—अहिंसा-विवेचन गुजराती से अनूदित

२—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित १।२।९७१

प्रश्न—यदि अहिंसा ही धर्म है और हिंसा धर्म नहीं तो खाना पीना किस लिए? मर ही क्यों नहीं जाना चाहिए।

उत्तर—यदि किसी के चित्त में अहिंसा इतनी एकरस हो जाए तो देह रखने के प्रति उदासीनता आये और वह उसे छोड़ देना चाहे, यह अशक्य नहीं। पर ऐसा सामान्य तौर पर मन से होता नहीं। कारण कि जहाँ तक जीवन में कुछ करने की, प्राप्त करने की और जानने की आशा और इच्छा रहती है; तब तक देह को टिकाए रखने की इच्छा भी काम करती है। अर्थात् धार्मिक पुरुष भी हिंसा और अहिंसा के बीच मर्यादा बांधकर ही सन्तोष मानता है, पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता[1]।

अध्यात्म-दर्शन जिन कार्यों को हिंसामय बताता है, उन्हीं को समाज अपनी परिधि में निर्दोष मानकर उन्हें करता है। इस सामाजिक आरोपवाद को महात्मा गाँधी ने बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है कि "निरामिष आहारी वनस्पति खाने में हिंसा है" यह जानता हुआ भी निर्दोषता का आरोपण कर मन को फुसलाता है[2]।

अनिवार्य हिंसा का कटु सत्य रूप रखते हुए वे लिखते हैं :—

"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योग मात्र सदोष है।"

"......खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है[3]।"

असंयमी दान, मोह दया, सांसारिक उपकार आदि-आदि सभी लौकिक विधियों को इसी दृष्टि से तोलना होगा। समाज के लिए जो अनिवार्य है, वे होंगे जरूर किन्तु वे अनिवार्य होने मात्र से अहिंसा धर्म नहीं बन सकते।

आचार्य भिक्षु ने समाज की अनिवार्य स्थितियों को समझाते हुए सिर्फ यही बताया कि "सामाजिक आवश्यकता या अनिवार्यता को संसार का मार्ग समझो और दया—अहिंसा को मोक्ष का मार्ग।"

१—अहिंसा-विवेचन गुजराती से अनूदित।

२—व्यापक धर्म-भावना पृष्ठ ३०८

३—अहिंसा-प्रभावना पृष्ठ ३५-३६

हमें समाज और अध्यात्म के तत्त्वों और दृष्टि-बिन्दुओं को भिन्न-भिन्न मानते हुए चलना चाहिए। मार्ग साफ रहेगा। दोनों को एक मानकर चलें तो उलझन आयेगी और अनात्मवाद बढ़ेगा। इसलिए बढ़ेगा कि अध्यात्मवाद संसार का विरोधी है और समाजवाद संसार का पोषक। समाजवाद यह पसन्द नहीं करेगा कि अध्यात्मवाद उसकी व्यवस्था में बाधा डाले। इसलिए वह उसे तोड़कर अकेला रहना चाहेगा। उचित यह है कि दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहें। समाज के लिए दोनों का उपयोग है। संसार में रहने और सुख से जीने के लिए समाजवाद का उपयोग है, शान्ति और समता की प्रतिष्ठा के लिए अध्यात्मवाद चाहिए। जिस प्रकार पं० नेहरू कहते हैं—साम्यवाद और जनतंत्र दोनों एक साथ रह सकते हैं, वैसे ही हमें कहना चाहिए—अध्यात्मवाद और समाजवाद दोनों एक साथ रह सकते हैं। रूप दोनों के दो होंगे भाषा दोनों की दो होंगी और भाव दो होंगे; फिर भी विरोध नहीं होगा। समाजवाद अध्यात्मवाद की बहुत सारी मर्यादाओं को अव्यवहार्य मानता है। अध्यात्मवाद समाजवाद की मर्यादाओं को हिंसा-विद्ध देखता है। यह उनका अपना-अपना दृष्टिकोण है।

अध्यात्मवाद समाजवाद को मिटाने की सोच नहीं सकता क्योंकि उसके पास दण्ड-विधान नहीं। बल-प्रयोग को वह हिंसा और हिंसा को सर्वथा वर्जनीय मानकर चलता है।

समाजवाद के पास विधि और दण्ड-विधान है, इसलिए वह कभी-कभी आगे बढ़ता है—अध्यात्मवाद को अनुपयोगी समझकर उसे मिटाने के मार्ग पर चलने का दम भरता है। यह अनुचित है और हिंसा शक्ति का दुष्परिणाम है। होना यह चाहिए कि दोनों के अनुयायी दोनों के दृष्टिकोण, भाषा और निरूपण को उनकी अपनी-अपनी मर्यादा समझकर भ्रम में न फँसें। यदि हम इस दृष्टि को लिए चलेंगे तो समाज हमारे धर्म को अनावश्यक या अनुपयोगी कहता है, वह हमें झुंझलायेगा नहीं और हम समाज की प्रवृत्तियों को हिंसा, अधर्म या पाप कहते हैं, इससे समाज के पोषकों को भी रोष नहीं होगा।

आचार्य भिक्षु ने अध्यात्म की भूमिका से अध्यात्म की भाषा में कहा—मोह-दया पाप है, असंयमी-दान पाप है। तत्त्वतः यह सही है। अध्यात्मवाद

मोह की परिणति को दया कब मानता है ? असंयमी को भिक्षा के योग्य कब मानता है ? जन साधारण ने तत्त्व नहीं पकड़ा, शब्द की आलोचनाएं बढ़ चलीं।

मूल्यांकन के सापेक्ष दृष्टिकोण

एक वस्तु के अनेक रूप होते हैं। अनेक को अनेक से देखें, दृष्टि सही होगी। एक से अनेक को देखें; सही तत्त्व हाथ नहीं आयेगा। मानदण्ड भी सब के लिए एक नहीं होता। कोई भी वस्तु एक दृष्टि से अच्छी या बुरी, आवश्यक या अनावश्यक, उपयोगी या अनुपयोगी नहीं होती। ये सब सापेक्ष होते हैं। मोक्ष के लिए व्यापार का कोई उपयोग नहीं किन्तु समाज के लिए वह अनुपयोगी है, यह हम कैसे कहें। मोक्ष-धर्म के लिए धन अनावश्यक है किन्तु समाज के लिए आवश्यक नहीं, यह कौन मान सकता है ? प्रवृत्ति के दो रूप होते हैं—अहिंसक प्रवृत्ति और हिंसक प्रवृत्ति। अध्यात्म-दर्शन की भाषा में अहिंसा-प्रवृत्ति को शुभ योग और हिंसा प्रवृति को अशुभ योग कहा जाता है। शुभ योग के समय आत्मा पुण्य कर्म से और अशुभ योग के समय आत्मा पाप कर्म से बँधती है। इसलिए उपचार से शुभ योग को पुण्य और अशुभ योग को पाप कहा जाता है।

समाज-दर्शन में शुभ या अशुभ योग और पुण्य-पाप जैसी कोई व्यवस्था नहीं है और इसलिए नहीं है कि समाज-दर्शन का मानदण्ड अहिंसा-हिंसा की दृष्टि से वस्तु को नहीं मापता। वह वस्तु का मान उपयोगी-अनुपयोगी की दृष्टि से करता है। जो वस्तु समाज के लिए उपयोगी है, वह अच्छी और जो उपयोगी नहीं, वह बुरी। समाज दर्शन की भाषा में समाज के लिए उपयोगी प्रवृत्ति को शुभ योग या पुण्य कार्य और अनुपयोगी प्रवृत्ति को अशुभ योग या पाप कार्य कहा जाएगा। अब आप सोचिए—दोनों का मानदण्ड एक नहीं है, तब दोनों की भाषा एक कैसे होगी ? स्याद्वाद का रहस्य है—वस्तु को विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से परखना। एक ही वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य होती है। इस दशा में दृष्टि भेद से उसे नित्य-अनित्य दोनों कहना क्या कोई गूढ़ रचना या शब्द-जाल है ? समाज के लिए उपयोगी किन्तु राग, द्वेष, मोह, हिंसामय प्रवृत्ति को समाज की दृष्टि

से शुभ योग यानी अच्छी प्रवृत्ति और अध्यात्म की दृष्टि से अशुभ योग कहा जाए, उसमें आपत्ति जैसी क्या बात है ? कुछ समझ में नहीं आता कम से कम स्याद्वादी के लिए तो यह उलझन नहीं होनी चाहिए। स्याद्वाद का प्रयोग सीमित नहीं है। वह सिर्फ वस्तु को नित्य-अनित्य बताने के लिए ही नहीं है।

समाज में बलवान् के लिए दुर्बल को मारना निर्दोष माना जाता है। चौंकिये मत, सही बात है। चूहों को मनुष्य मारता है, बन्दरों को मारता है और उन सब को मारता है, जो मनुष्य के स्वार्थ में बाधक बनकर जीते हैं। मानो जीने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है। समाज के प्रवर्तक मनुष्य के विरोधी तत्त्वों को मारने की अनुमति देते हैं किन्तु वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। "सबल के लिए निर्बल को मारने को मोक्ष धर्म बताते हैं वे कुगुरु हैं कुबुद्धि से चलने वाले हैं[1]"—आचार्य भिक्षु ने यह तत्त्व बताया।

समाज में स्वार्थ-हिंसा भी चलती है। अपने छोटे-मोटे स्वार्थ के लिए मनुष्य छोटे-मोटे जीवों को मारता है। समाज-दर्शन इसे बुरा नहीं मानता। किन्तु यह मोक्ष-धर्म नहीं है। परार्थ हिंसा भी चलती है। एक आदमी दूसरे आदमी के लिए भी जीवों को मारता है। गरीबों को मारकर बड़ों को को पोषण देने की प्रवृत्ति जो है, उसे धर्म बताना दोषपूर्ण है[2]।

बलात्कार अहिंसा नहीं है। हम हिंसक को जबरदस्ती अहिंसक नहीं बना सकते। हिंसक की आत्मा अहिंसा को स्वीकार नहीं करती, तब तक किसी

१—मच्छ गलागल लोक में, सबल निबल ने खाय।
तिण मांहे धर्म परुपियो, कुगुरु कुबुद्धि चलाय॥
—अनुकंपा चौपई दोहा ७।१

२—रांकां नै मार धींगा नै पोख्यां, ए तो बात दीसै घणी गैरी।
तिण मांहे दुष्टी धर्म बतावै, रांक जीवां रा उठ्या वैरी।
—व्रताव्रत चौपई ७।४

जीवां नै मार जीवां नै पोखै, ते तो मार्ग संसार नो जाणो।
तिण मांहि साधु धर्म बतावै, ते पूरा छै मूढ अयाणो॥
—अनुकंपा चौपई ९।२४

देवता की भी ताकत नहीं कि उसे अहिंसक बना दे। उपाध्याय विनयविजय जी के शब्दों में—"भगवान् महावीर जमालि को, जो उनका दामाद था और मिथ्यात्व के प्रचार में जुट गया था, नहीं रोक सके तो दूसरा कौन किसे रोक सकता है? कौन किसे बलपूर्वक पाप से बचा सकता है[1]। अतुल बलशाली अरिहन्तों ने क्या बल प्रयोग करके धर्म करवाया? नहीं। किन्तु शुद्ध धर्मोपदेश दिया जिसे समझ-धारकर लोग संसार-समुद्र का पार पाते हैं।"

यही बात आचार्य भिक्षु ने कही—"तीर्थंकर घर में थे, तब उनमें तीन ज्ञान थे, राज्य अधिकार भी था फिर उन्होंने अहिंसा पालन की बलात् आज्ञा नहीं बरताई। बलात् हिंसा छुड़ाने में यदि धर्म होता तो चक्रवर्ती बलपूर्वक छह खण्ड में अहिंसा की घोषणा करा देते[2]। किन्तु ऐसा न होता है और न उन्होंने किया भी।"

लोभ, लालच देना या परिग्रही बनाना भी अहिंसा नहीं है। देव, गुरु और धर्म—ये तीनों अपरिग्रही हैं। परिग्रह के द्वारा इन्हें मोल लेना चाहे, वह विपरीत दिशा है। परिग्रही स्वयं बने या दूसरे को परिग्रही बनाये और किसी भी भावना से बनाये, वह मोक्ष का मार्ग नहीं है[3]।

१—मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण, रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापात्, तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम्॥
अर्हन्तोपि प्राज्यशक्तिस्पृशः किं, धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य।
दद्युः शुद्धं किन्तु धर्मोपदेशं, यत् कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति॥
—शान्त सुधारस १६।३-४

२—तीर्थङ्कर घर में थकां, त्यां नै होता हो तीन ज्ञान विशेष।
हाल हुक्म थो लोक में, त्यां न फेर्यो हो पड़हो सूत्र देख॥
—अनुकंपा ७।४४

जोरी दावै पैला नै मना किया, धर्म हुवै तो फेरै छै खण्ड में आण।
—अनुकंपा चौपई ७।४६

३—मोल लियां धर्म कहै मोक्ष रो, ए फंद मांड्यो हो कुगुरां कुबुद्धि चलाय।
—अनुकंपा ७।६३

देव, गुरु, धर्म रत्न त्रिहुं, सूत्र में हो जिन भाख्या अमोल।
मोल लियां नहीं नीपजै, साची श्रधा हो आंख हिया री खोल॥
—अनुकंपा चौपई ७।६४

शौनकोपदेश और पद्मपुराण के अनुसार—"जिस व्यक्ति को धर्म के लिए धन की इच्छा हो, उसका इच्छा रहित होना अच्छा है। कीचड़ को धोने की अपेक्षा दूर से उसको न छूना ही अच्छा है।"

ठीक यही तत्त्व इष्टोपदेश में पूज्यपाद ने बताया है।

समाज की दृष्टि में बल-प्रयोग का भी, परिग्रह का भी अपनी-अपनी जगह स्थान है, इसलिए हमें वस्तु-तत्त्व को परखने में पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करनी हो, वहाँ हमें अध्यात्म का मानदण्ड लेकर उसीकी भाषा में बोलना चाहिए और जहाँ उपयोगी-अनुपयोगी की परख करनी हो, वहाँ समाज का मानदण्ड और उसीकी भाषा का व्यवहार करना चाहिए। आचार्य भिक्षु ने इसी को सम्यग् दृष्टि कहा है[1]।

उठो और उठाओ—जागो और जगाओ

आचार्य भिक्षु ने भगवान् महावीर की वाणी का सार समझाते हुए कहा—

व्रत धर्म है, अव्रत अधर्म।

त्याग धर्म है, भोग अधर्म।

संयम-जीवन धर्म है, असंयम-जीवन अधर्म।

पण्डित-मृत्यु धर्म है, बाल-मृत्यु अधर्म।

वीतराग-भाव धर्म है, राग अधर्म।

अद्वेष-भाव धर्म है, द्वेष अधर्म।

उन्होंने बताया—जीना और मरना आत्मा की अमरता के दो पहलू हैं। जीना-मरना धर्म नहीं है; धर्म है त्याग और तपस्या। संयमी जीवन और संयमी मृत्यु की इच्छा करना धर्म है। असंयमी जीवन और असंयमी मृत्यु की इच्छा करना अधर्म है। संयमी जीवन का संयमानुकूल पोषण करना धर्म है। असंयमी जीवन का पोषण करना धर्म नहीं है[2]।

१—संसार मोक्ष तणा उपगार, सम दृष्टि हुवै ते न्यारा-न्यारा जाणै।

—अनुकंपा चौपई ११।५२

२—जीव जीवै काल अनादरो, मरै तेहनी हो पर्याय पलटी जाण।
संवर निर्जरा तो न्यारा कह्या, ते तो लेजावै हो जीव नै निर्वाण॥

—अनुकंपा चौपई ७।६०

जो जीव अव्रती है, छह काय की हिंसा करने का जिसे सर्वथा त्याग नहीं है, उसका जीवन असंयमी है। जिसने सर्व सावद्य—सर्व हिंसा का त्याग कर दिया उसका जीवन संयमी है[1]।

आचार्य भिक्षु की सूत्र-वाणी के आधार पर आचार्य श्री तुलसी ने कहा—"उठो और उठाओ—जागो और जगाओ।" आचार्यवर के शब्दों में 'जीओ और जीने दो'—यह सिद्धान्त पारमार्थिक नहीं है। इसमें सिर्फ अधिकार की ध्वनि है। जीना परमार्थ नहीं। परमार्थ है जीवन को संयममय बनाना। जीने दो यानी मत मारो। मारने का तुम्हें अधिकार नहीं है। किन्तु, परमार्थ इससे आगे बढ़ता है। वह यह है—मत मारो, वह तुम्हारा गुण है, तुम्हारी अहिंसा या दया है, तुम्हारा कल्याण है। इससे उनका क्या बना? उन्हें संयम का तत्त्व समझाकर संयमी बनाओ। इसमें तुम्हारा और उनका दोनों का कल्याण है। इसलिए यही परम पुरुषार्थ है।

अव्रती जीवां रो जीवणो वंछै, तिण धर्म परमार्थ नहीं पायो।

—अनुकंपा चौपई ८।१७

राग द्वेष कर्मां रा चाला छै, श्री जिन धर्म मांहे नहीं आवै।

—अनुकंपा चौपई ११।४५

साधु श्रावक नो धर्म व्रत में, जीव हणवारा करै पचखाण।

—अनुकंपा चौपई १२।७

असंजती रा जीवणा मम्फे, धर्म नहीं अंश मात। —अनुकंपा १२।६२

खाणो पीणो गहणा कपड़ादिक, गृहस्थ तणा सारा काम भोग।
त्यां री करै बधो तर तेहनै, बधै पाप कर्म ना संजोग॥

—अनुकंपा १२।४२

असंजम जीतब नें बाल मरण यां री, आशा बँछा नहीं करणी।

—अनुकंपा ९।३८

पण्डित मरण ने संजम जीतब, त्यां री आशा वंछा धरणी।

—अनुकंपा ९।३८

1—छ काय रा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो असंजम जीतब जाणो।
सर्व सावद्य रा त्याग किया, त्यांरो संजम जीतब पिछाणो॥

—अनुकंपा चौपई ९।३९

विश्लेषण का मार्ग

स्याद्वादी के लिए—सत्यमार्गी के लिए यह आवश्यक है कि वह स्याद्वाद के सहारे वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करे। यह कूटनीति या उलझन का मार्ग नहीं होता किन्तु यह दृष्टि को उदार बनाने वाला मार्ग है। परिव्राजक शुकदेव ने मुनि थावच्चा पुत्र को पूछा—"कुलथा भक्ष्य है या अभक्ष्य?" मुनि ने कहा—"भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। कुलथा के दो अर्थ होते हैं— एक अनाज और दूसरा स्त्री। स्त्री कुलथा अभक्ष्य है। अनाज कुलथा सचित्त और अचित्त दो प्रकार का होता है। सचित्त कुलथा अभक्ष्य है। अचित्त कुलथा भी दो प्रकार का होता है—याचित और अयाचित। अयाचित अभक्ष्य है। याचित दो प्रकार का होता है—अनेषणीय और एषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य है। एषणीय दो प्रकार का होता है— अलब्ध और लब्ध। लब्ध भक्ष्य है[1]।"

लोग सोचेंगे—यह कैसा उत्तर! थोड़े से प्रश्न पर कितने विकल्प किये। प्रश्नकर्ता सब स्थितियों को विश्लेषणपूर्वक समझ सके, इसलिए ऐसा उत्तर देना स्याद्वाद की विधि है। ऐसा उत्तर प्रश्नकर्ता को जाल में फांसने के लिए नहीं किन्तु दुविधा से परे रखने के लिए होता है। इस पर भी उत्तरदाता के दृष्टिकोण को कोई ठीक नहीं पकड़ सके, उसका क्या इलाज हो?

रामगढ़ की बात है। आचार्य श्री तुलसी के पास बहुत सारे पण्डित एकत्र होकर आए। उनका प्रश्न अपना नहीं था। उसके पीछे भ्रान्त प्रचार था। उन्होंने आचार्यवर से पूछा—"जीव बचाने में क्या होता है? धर्म या अधर्म?" आचार्यवर ने उनकी भ्रान्ति को एकबारगी समेटते हुए कहा— कथंचित् धर्म और कथंचित् अधर्म। जो संयमी हैं, अहिंसक हैं, उन्हें बचाना धर्म है और जो हिंसक हैं, असंयमी हैं, उन्हें बचाना धर्म नहीं है। तात्पर्य यह कि संयम की रक्षा धर्म है, असंयम की रक्षा धर्म नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने विरोधी प्रश्नों को सुलझाते हुए स्याद्वाद का बड़ा भारी उपयोग किया है। वे जहाँ अध्यात्म के दृष्टिकोण से देखते हैं और अध्यात्म की भाषा में बोलते हैं, वहाँ हिंसायुक्त असंयममय उपकारों को अधर्म

१—ज्ञाता ५

पाप, अशुभ कर्म कहते हैं और जहाँ समाज के दृष्टिकोण से देखते हैं, वहाँ, उन्हीं को 'संसार का उपकार' आदि-आदि कहते हैं। आचार्य श्री तुलसी सामाजिक कर्तव्यों को लौकिक धर्म कहते हैं, वहाँ कई व्यक्तियों को बड़ी कूट नीति लगती है और वे सिद्धान्त को छिपाने का आरोप लगाते नहीं सकुचाते। किन्तु आचार्य श्री की उत्तर-पद्धति का आधार पाने के लिए आचार्य भिक्षु के कुछ पद्यों पर मनन करिए। फिर विरोध नहीं दीखेगा। देखिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—

"जीवां नै जीवां बचावियां हुवै संसार तणो उपगार[1]।"

यहाँ प्राण-रक्षा को संसार का उपकार कहा गया है। आगे चलिए—

बचावण वालो ने उपजावण वालो,
ए तो दोनूं संसार तणा उपगारी।
एहवा उपगार करै आहमा साहमा,
तिण में केवली रो धर्म नहीं छै लिगारी[2]।"

मरते जीव को बचाने वाला और जीव को पैदा करने वाला पिता, दोनों संसार के उपकारी हैं। ये पारस्परिक उपकार हैं। इनमें केवली का धर्म नहीं है। यहाँ 'केवली का धर्म नहीं है'—यह पद ध्यान देने योग्य है।

"संसार तणा उपगार कियां मैं,
जिण धर्म रो अंश नहीं छै लिगार[3]।"

यहाँ 'जिन धर्म नहीं' ऐसा कहा है किन्तु 'एकान्त पाप' नहीं कहा। इस प्रकार आचार्य भिक्षु ने अनेक शब्द व्यवहार में लिए है, जो पहले बताए जा चुके हैं।

१—अनुकंपा चौपई १२।८
२—अनुकंपा चौपई ११।४२
३—अनुकंपा चौपई ११।३९

सातवां अध्याय

बन्धन और बन्धन-मुक्ति का विवेक

लोग कहने लगे—भीखण जी दया में पाप बतलाते हैं। दान में पाप बतलाते हैं। दूर-दूर के लोग शब्द-जाल में फँस जाते हैं, पाप शब्द को सुन चौंक उठते हैं।

पाप आखिर वस्तु क्या है, इसे समझिए तो सही। अन्य दर्शन जिसे बन्धन कहते हैं, वह जैन दर्शन की भाषा में पाप कहलाता है। साधारणतया पाप शब्द का अर्थ समझा जाता है—दुष्ट, निन्दनीय, दुराचार, बुरा और जैन दर्शन में उसका अर्थ होता है—अशुभ-कर्म-बन्धन। तत्त्व-मीमांसा में हम दूसरे दर्शनों से अधिक दूर नहीं हैं। सिर्फ शब्द की परिभाषा हमें बहुत दूर किये हुए है। दूसरे बहुत सारे आचार्य मोह-दया और असंयमी-दान को शुभ बन्ध का हेतु मानते हैं और हम अशुभ बन्ध का। इसे आत्म-शुद्धि का कारण या साधना का मार्ग न दूसरे धर्म मानते हैं और न हम भी। शुभ कर्म-बन्ध भी बन्धन है, अशुभ कर्म बन्ध भी बन्धन। एक सोने की बेड़ी है, दूसरी लोहे की।

उपाध्याय विनयविजयजी के शब्दों में—"शुभ कर्म सोने की जंजीर है; जो मोक्ष-सुख या आत्म-स्वातंत्र्य को रोके हुए है[1]।"

आचार्य कुंदकुंद के शब्दों में—"सोने की और लोहे की दोनों प्रकार की बेड़ियां जैसे मनुष्य के लिए बन्धन है, वैसे ही शुभ और अशुभ कर्म—पुण्य-पाप मनुष्य को बांधने वाले हैं[2]।"

आचार्य भिक्षु के शब्दों में—"पुण्य संसार की दृष्टि से श्रीकार है, मोक्ष-सुख की तुलना में वह सुख है ही नहीं। पुण्यजन्य सुख पौद्गलिक हैं, क्षणभंगुर

१—शुभकर्माणि, काञ्चन निगडांस्तान्यपि जानीयात्, हतनिर्वृतिशर्माणि।
—शान्त सुधारस ७

२—समयसार १४६।

हैं, खुजली जैसे मीठे हैं। आत्मिक सुख या मोक्ष-सुख शाश्वत, अविकारी, स्वाभाविक और अपार है[1]।"

भगवान् महावीर ने बताया है—"प्रमाद-बहुल जीव शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा संसरण करता है—जन्म-मृत्यु की परम्परा में बहता है[2]।" "मोक्ष तब होता है जब शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के बन्धन टूटते हैं[3]।"

गीता कहती है—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनों छोड़ देता है" यानी मुक्ति दोनों के छूटने से होती है[4]।

'पुण्य की इच्छा करना पाप है[5]'—आचार्य भिक्षु की यह वाणी बहुत गम्भीर अर्थ लिए हुए है। अध्यात्मवाद का चरम साध्य है—मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप से आत्यन्तिक मुक्ति। मोक्षार्थी जिससे मुक्ति चाहता है, उसी में फँसे—यह गलत दिशा है।

पुण्य का फल सुख होता है, पाप का फल दुःख, इसलिए पुण्य और पाप

१—पुण्य तणा सुख वर्णव्या, संसार लेखे श्रीकार।
त्यां नै मोक्ष सुखां सूं मींढिये, तो ए सुख नहीं मूल निगार॥
पुद्गलिक सुख छै पुण्य तना, ते तो रोगीला सुख ताय।
आत्मिक सुख छै मुक्ति नां, त्यां नै तो ओपमा नहीं काय॥
पांव रोगी हुवै तेहने, खाज मीठी लागै अत्यन्त।
ज्यूं पुण्य उदय हुआं जीवने, शब्दादिक सर्व गमता लागंत॥
सर्प डंक लाग्यां जहर परगम्यां, मीठा लागै नींब पान।
ज्यूं पुण्य उदय हुआं जीवने, मीठा लागै भोग प्रधान॥
रोगीला सुख छै पुद्गल तणा, तिण में कला म जाणो लिगार।
ते पिण काचा सुख अशास्वता, विणसतां नहीं लागै बार॥
—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय ३।४६-५०

२—एवं भव संसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवोपमायबहुलो, समयं गोयम मा पमायए॥ —उत्तराध्ययन १०।१५

३—उत्तरा० २१।२४

४—बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते। —गीता २।५०।

५—पुण्य तणी वांछ कियां, लागै पाप एकन्त। —नव सद्भाव ३

के बन्ध में बहुत बड़ा अन्तर होना चाहिए—ऐसा विचार आ सकता है। किन्तु यह व्यवहार्य दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि में बात दूसरी होती है। जिन भद्र गणी के मतानुसार—'पुण्य फल तत्त्वतः दुःख है[१]।

आचार्य भिक्षु ने कहा :—

"शेष रह्या काम संसार ना, तिण कीधां बंधसी कर्म।
वांछै मरणो जीवणो, ते धर्म तणो नहीं अंश।
ए अनुकम्पा कियां थकां, वधै कर्म नो वंश[२]॥
"अणुकम्पा इह लोक री, कर्म तणो बंध होय।
ज्ञान, दर्शन चारित्र बिना, धर्म म जाणो कोय[३]।"

जिन भद्र गणी कहते हैं—"परमार्थ दृष्टि में पुण्य-फल अशुभ कर्म का जनक होने के कारण दुःख ही है।" यहाँ पहुँचने पर ऐसा लगता है कि दोनों विचारों का निष्कर्ष एक रेखा पर है। इसलिए शब्द की खींचा-तानी में हमें रस नहीं लेना चाहिए। हम जो तत्त्व देना चाहते हैं, उसे जिस शब्द से लोग सहजतया पकड़ सकें; उसी शब्द को प्रयोग में लाना चाहिए।

मोह-दया आत्म-साधना से दूर ले जाती है—इस तत्त्व को पाप शब्द के द्वारा लोग समझें तो पाप कहना चाहिए। लोक-धर्म, लौकिक पुण्य और सामाजिक कर्तव्य के द्वारा समझे तो इन्हें व्यवहृत करना चाहिए। हमें तत्त्व देने से मतलब है। लोगों को भड़काएं, यह हमारा उद्देश्य नहीं है। समय के साथ-साथ शब्द-प्रयोग बदलता रहता है। आचार्य श्री तुलसी ने मोह-दया आदि सामाजिक प्रवृतियों के लिए लौकिक पुण्य, लोक-धर्म आदि शब्दों का प्रयोग कर तत्त्व-मीमांसा का मार्ग सरल कर डाला। लोग कहते हैं—आचार्य श्री ने दया-दान में परिवर्तन कर डाला। यह सही भी है और नहीं भी। कुनैन जैसी कड़वी दवा और विष भी आवश्यकतानुसार दिये जाते थे, अब भी दिये जाते हैं। अन्तर इतना आया है कि पहले सीधा दिया जाता था और आज कल चीनी-लिप्त दिया जाता है। इसे हम कह सकते हैं परिवर्तन हुआ है और

१—विशेषावश्यक भाष्य २००४-२००५

२—अनुकम्पा चौपई ३।१। दोहा

३—अनुकंपा चौपई २।१। दोहा

नहीं भी हुआ। यही बात आचार्य श्री की तत्त्व-निरूपण-पद्धति के लिए समझिए। तत्त्व मूल का है। उसे लोग जिस रूप में सुलभतया ले सकें, भाषा वैसी है।

जैन परम्परा में विकार

समय चक्र के परिवर्तन के साथ धर्म-शासन में भी उतार-चढ़ाव आते हैं। धर्म का मौलिक रूप ह्रास से परे होता है किन्तु उसके प्रकार की या अनुयायी वर्ग की सीमा का ह्रास या विकास होता रहता है। गहराई या मौलिकता की दृष्टि से धर्म का महत्त्व आंकने वाले विरले होते हैं। जनसाधारण अनुयायी वर्ग की संख्या के अनुसार धर्म को बड़ा या छोटा मानते हैं। बाहरी मर्यादा में ऐसा होता भी है। अल्पसंख्यकों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए बहुमत के सामने झुकना पड़ता है।

विक्रम की सहस्राब्दी तक जैन धर्म जनता का धर्म रहा। इसके बाद कुमारिल, आचार्य शंकर आदि-आदि वैदिक विद्वानों के इतने तीव्र प्रहार हुए कि वह सिमटता सिमटता नाम मात्र सा रह गया। बौद्ध धर्म के उत्कर्ष काल में जैन धर्म में कुछ शिथिलता आई। अहिंसा की सीमा में करुणा को घुसने का कुछ मौका मिला, फिर भी उस समय जैन प्रभुत्व भी शक्तिशाली था, इसलिए वह उससे अधिक प्रभावित नहीं हुआ।

वैदिक विद्वानों का प्रहार श्रमण परम्परा की मुख्य दो शाखाओं—जैन और बौद्ध पर था। सांख्य, जो श्रमण-परम्परा का ही एक अंग था, वह अर्द्ध-वैदिक बन गया। बौद्ध भारत से बाहर चले गए। जैन धर्म का अपनी विशेषताओं के कारण अस्तित्व मिटा नहीं किन्तु इसके बाद धीरे-धीरे उसमें विकार घुसते गए। जर्मन विद्वान् प्रो० हेमल्ट ग्लाजनेप ने 'जैनिज्म' नामक पुस्तक में इस विषय पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—"वैदिक यज्ञ-काण्ड के पुनरुद्धारक कुमारिल ने और मायावाद, ब्रह्मवाद के स्थापक महान् शंकर ने वेद-धर्म-विरोधी जैन धर्म के विरुद्ध अपने तमाम शास्त्रीय शस्त्रों के द्वारा युद्ध किया और यह युद्ध धीरे-धीरे ऐसा बलवान् हुआ कि जैन धर्म को नम्रीभूत हो जाना पड़ा। दक्षिण भारत में वैष्णव और शैव सम्प्रदाय ने जैन धर्म पर भयंकर प्रहार किया।

हिन्दू धर्म की विशिष्ट कला के कारण जैन धर्म के अनेक शिष्य उस धर्म में चले गये। इतना ही नहीं मगर अभी इसके जो शिष्य हैं, उनमें भी हिन्दू-धर्म के अनेक आचार-विचार प्रवेश कर गए हैं। इसी प्रकार से हिन्दू-धर्म के जिन देवी-देवताओं को जैनों में किंचित् मात्र भी स्थान नहीं था, उनमें उन देवी-देवताओं का प्रवेश हो गया है। वेदान्त के प्रभाव से अनेक पारिभाषिक शब्द भी जैन साहित्य में घुस गए हैं। भावनाओं और सामाजिक जीवन में भी जैन लोग हिन्दू-भाव स्वीकार करते जा रहे हैं।

भगवान् महावीर ने जातिवाद का घोर विरोध किया। आचारांग और सूत्र-कृतांग में जाति के मिथ्या अभिमान को चूर करने वाली उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। फिर भी आज के बहुसंख्यक जैन जातिवाद को अपनी बपौती की वस्तु माने हुए बैठे हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर के आचार्य जातिवाद के खण्डन में प्रकरण के प्रकरण लिख चले। उन्हीं के अनुज जातिवाद के पोषक बन गए और जैन साहित्य में स्पृश्य-अस्पृश्य की व्यवस्था भी घुस आई[1]।

"श्राद्ध, तर्पण, गोमय-लेपन, शुद्धि का अतिरेक आदि के विचार जैन-परम्परा में घुस आए और उनसे वह विकृत बन गई।"

जैन आगमों की टीकायें भी मूलस्पर्शी नहीं रही हैं जैसा कि पं० बेचर दासजी ने लिखा है—"हूँ सूत्रों नी टीकाओ सारी रीते जोइ गयो छुं, परन्तु तेमां मने घणे ठेकाणे मूल नूं मूसल करवा जेवुं लाग्युं छे[2]।"

उत्तरवर्ती साहित्य में तो बहुत ही विकार आया। जैन-परम्परा का मूल रूप ढूंढ निकालना कठिन हो गया। परम्परा के विकारों के संकेत हमें पुरानी गाथाओं में भी मिलते हैं। एक आचार्य ने लिखा है—

"पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः, बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य, निर्मलं मलिनीकृतम्[3] ॥"

१—कारवोऽपि मता द्वेधा, स्पृश्याऽस्पृश्यविकल्पतः।
तत्राऽस्पृश्याः प्रजाबाह्याः, स्पृश्यास्युः कर्तकादयः ॥ —महापुराण १६।१८६

२—जैन साहित्य मां विकार थवा थी थयेली हानि —पृष्ठ १२३

३—ग्रंथ परीक्षा १, भाग ३ ले० जुगोलकिशोर मुख्तयार—अनगार धर्मामृत टीका में पं० आशाधरजी द्वारा उद्धृत।

चारित्र-भ्रष्ट पण्डितों ने जैन शासन को मलिन बना डाला।

इसी प्रकार संघपट्टक की प्रस्तावना में अभयदेव सूरि का मत दर्शाते हुए प्रस्तावना लेखक ने लिखा है—"आवी रीते वीर प्रभु थी एक हजार वर्ष पर्यन्त सरखी परम्पराए तेवा साधुओं नो सीधो कार भार चालू रह्यो···छतां भगवान् थी आठ सौ पचास वर्षे थोड़ाक यतियोए वीर प्रभु ना शासन थी बे दरकार बनी उग्र विहार छोड़ी चैत्यवास नी शुरुआत करी हती। पण मुख्य भाग तो वसतिवासी ज रह्यो हतो अने ते भाग मां अग्रेसर तरीके ओलखाता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणे भगवान् थी ६८० मां वर्षे वल्लभीपुर मां संघ ने एकत्रित करी। जैन सूत्रों ने पुस्तकारूढ़ कर्या छे। सद्गुरु देवर्द्धिगणी भगवान् थी १००० वर्ष स्वर्गवासी थया अने ते साथे खरूं जिन-शासन गुम थई तेना स्थाने चैत्यवासिओए पोताना दोर अने जोर चलाववा मांड्यो। आ माटे नवांगी वृत्तिकार, श्री अभयदेव सूरि 'आगम अढोतरी' नाम ना ग्रन्थ मां नीचे नी गाथा आपे छे के—

"देवड्ढिखमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलाचारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा" ॥१॥

भावार्थ—देवर्द्धि क्षमाश्रमण सुधी भाव परंपरा हुं जाणुं छुं, बाकी ते पछी तो शिथिलाचारिओए अनेक प्रकारे द्रव्य परम्परा स्थापित करी छे।

"आ रीते भगवान् थी ८५० वर्षे चैत्यवास स्थपायो तो पण तेनुं खरेखरूं जोर वीर प्रभु थी हजार वर्ष बीत्या केड़े वधवा मांड्युं। आ अरसा मां चैत्य-वास ने सिद्ध करवा माटे आगम ना प्रतिपक्ष तरीके निगमना नाम तले उप-निषदों ना ग्रन्थों गुप्त रीते रचवा मां आव्या अने तेओ दृष्टिवाद नाम ना बारमां अंग ना त्रुटेला ककड़ा छे एम लोको ने समजाववामां आव्युं। ए ग्रन्थों मां एवुं स्थापन करवा मां आव्युं छे के आज काल ना साधुओ ए चैत्य मां वास करवो वाजबी छे तेमज तेमणे पुस्तकादि ना जरूरी काम मां खपलागे माटे यथायोग्य पैसा टका पण संघरवा जोइये। इत्यादिक अनेक शिथिलाचार नी तेओ ए हिमायत करवा मांडी अने जे थोड़ा घणा वसतिवासी मुनिओ रह्या हता तेमनी अनेक रीते अवगणना करवा मांडी।"

इस विकार-काल में प्रवर्तक-धर्म की पुण्यस्कंध वाली विचारधारा जैन-साहित्य में प्रवाहित हुई—ऐसा अनुमान करना दुरूह नहीं है।

जैन धर्म का आधार

जैन धर्म केवल मोक्ष के साधन के रूप में प्रतिष्ठित है। वह समाज का नियमन या व्यवस्था नहीं करता। जैन के प्रामाणिक आगम-सूत्रों में समाज-व्यवस्था का कोई नियम नहीं मिलता। समाज की परिवर्तनशील धारणा या स्थिति में अपरिवर्तनशील सत्य के नियामक धर्म को उलझना भी नहीं चाहिए। धर्म के शाश्वतिक रूप के साथ-साथ समाज की अशाश्वत धारणाएं पलती हैं, इससे रूढ़िवाद का जन्म होता है। देश-काल के अनुसार समाज की स्थितियों में परिवर्तन वांछनीय माना जाता है किन्तु धर्म की तरह सामाजिक संस्कारों की जड़ जम जाए तब उन्हें उखाड़ फेंकना सहज नहीं रहता।

जैन धर्म आत्म-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित बना और है, इसीलिए वह सामाजिक संगठन की मजबूत नींव नहीं डाल सका। इस्लाम धर्म में विश्वास करने वाला जैन जैसे मुसलमान जाति के रूप में बदल जाता है, वैसे जैन धर्म में विश्वास रखने वाले को जैन जाति के रूप में बदलना जरूरी नहीं होता। वैदिक धर्म में समाज-व्यवस्था का पूरा स्थान है। इसलिए सामाजिक प्राणी के लिए वह अधिक आकर्षक है। जैन धर्म समाज की व्यवस्था से सम्बन्ध जोड़कर चल भी नहीं सकता और न चलना चाहता भी है। क्योंकि इससे उसका धार्मिक रूप नष्ट होकर वह केवल समाज-व्यवस्था का नियामक मात्र रह जाता है।

जैन धर्म की आत्यन्तिक आध्यात्मिकता का कारण है—उसकी अहिंसा वृत्ति, वह धर्म के क्षेत्र में अहिंसा को ही एक मात्र परम तत्त्व मानकर चलता है। करुणा का क्षेत्र सामाजिक है। निषेधक रूप में करुणा धर्म से जुड़ी हुई है। जैसे—न मारना, न सताना, पशुओं पर अधिक भार न लादना, खान-पान में अन्तराय न डालना आदि-आदि। विधायक रूप में करुणा की कड़ी धर्म से जुड़ी हुई है भी और नहीं भी। आत्मा की पापमूलक प्रवृत्तियों को मिटाने के लिए जो रागहीन करुणा पैदा होती है, वह धर्म है। प्राणी की दुःख दुविधाओं को मिटाने के लिए जो रागमय करुणा पैदा होती है वह धर्म नहीं; समाज का उपयोगी धारक या पोषक तत्त्व है।

हिंसक या क्रूर समाज की अपेक्षा अहिंसक या कोमल भावना वाले समाज

में करुणा का विकास अधिक होता है और ऐसा हुआ भी है। करुणा के इस सतत प्रवाही विकास ने जैन धर्म की मौलिकता में विकार ला दिया। कालक्रम के अनुसार यह पुण्य और धर्म माना जाने लगा।

जैन विचार संयम पर विकसित हुए हैं। उनमें व्यक्ति, जाति या स्थिति की विशेषता नहीं है। जन्मना जाति के समर्थकों ने आर्द्रकुमार से कहा—"दो हजार स्नातकों को जिमाने वाला महान् पुण्य स्कन्ध का उपचय कर स्वर्ग जाता है—यह वेद वाक्य है[1]।" यह सुनकर आर्द्रकुमार बोले—"असंयमी ब्राह्मणों को जिमाने वाला नरक में जाता है।"

इसका यह अर्थ नहीं कि असंयमी को जिमाने वाला नरक में ही जाता है। इस तत्त्व को कटु-सत्य के रूप में रखा गया है। तत्त्व इतना ही है कि यह मोक्ष-धर्म या पुण्य का मार्ग नहीं है।

विचार-परिवर्तन

एक ओर जैन आगम उक्त विचार-धारा देते हैं। दूसरी ओर उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थ इसके विरुद्ध उसका समर्थन करते हैं, जिसका भगवान् महावीर ने प्रचुर-विरोध किया। पुण्य-स्कन्ध का जो विचार ब्राह्मण-परम्परा का अंग रहा, वही जैन-परम्परा में ऐसे आ घुसा कि आज मौलिक विचार तक पहुँचना कठिन हो रहा है। जैन धर्म के उत्कर्ष में जैसे अहिंसा, तपस्या और अकिंचनता के विचारों ने जैनेतर धर्मों को प्रभावित किया, जिसे लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानों ने भी स्वीकार किया है; वैसे ही वैदिक धर्म के उत्कर्ष में वैदिक विचारों ने जैन धर्म पर प्रभाव डाला। उदाहरण के रूप में जातिवाद को लीजिए। भगवान् महावीर 'जन्मना जाति' के विरुद्ध होने वाली क्रान्ति के मुख्य उन्नायक थे। सूत्रकृतांग, जो भगवान् महावीर के दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु का प्रतिनिधि सूत्र है, में जातिवाद पर मार्मिक प्रहार किया गया[2]।

वीर-निर्वाण की अनेक शताब्दियों तक जैन परम्परा जातिवाद से मुक्त रही। इसके खण्डन में बड़े-बड़े ग्रन्थों के पृष्ठ लिखे पड़े हैं। आगे चलकर

१—सूत्र कृतांग ३।४।६।७

२—सूत्रकृतांग १।१३।१०, १।१३।११, १।९।२०३, १।९।२७, १।१३।१६, १।१३।१८, १।१३।७

स्थिति बदल गई। जैन धर्म के अपकर्ष काल में जातिवाद उस पर छा गया। आज जैनों के लिए यह समझना कठिन हो रहा है कि उनके महान् तीर्थंकर भगवान् महावीर जातिवाद के विरोधी थे। यही दशा पुण्य-स्कन्ध के विचार की है। सूत्रकृतांग जिसे पुण्य मानने का निषेध करता है, उसे आज बहुत से जैन पोषण दे रहे हैं। पड़ोसी धर्मों का एक दूसरे पर असर होता है और अपने-अपने प्रभाव-काल में वे दूसरों पर अधिक असर डालते हैं—यह अस्वाभाविक नहीं।

समन्वय की मनोवृत्ति के कारण कुछ जैनाचार्यों ने शाब्दिक समन्वय साधा तो कुछ ने व्यावहारिक रूप भी बदल डाला। जैनाचार्यों ने 'श्राद्ध' को तत्त्वतः स्वीकार नहीं किया। शाब्दिक रूप में उसे जैन साहित्य में स्थान मिला। अमितगति-श्रावकाचार में श्राद्ध की व्याख्या मिलती है[1]। इसी प्रकार तर्पण का भी समन्वय किया गया। यह हमें नीति वाक्यामृत[2] और यशस्तिलक[3] चंपू में मिलता है। यह शाब्दिक समन्वय है। इनमें तत्त्व नहीं बदला।

तत्त्व-विकार के कुछ नमूने देखिए—जो जैन धर्म अपरिग्रह की मर्यादा को मुख्य मानकर चलता है, उसका एक अनुयायी भी यह विचार रखे कि "सोने, चाँदी, मूंगे और मोती की माला से जप करने से हजार उपवास जितना फल होता है[4]।" अंगूठे पर जप करने से मोक्ष मिलता है, तर्जनी

१—साधुभ्यो ददता दानं, लभ्यते फलमीप्सितम्।
यस्यैषा जायते श्रद्धा, नित्यं श्राद्धं वदन्ति तम्॥

२—तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणम्।
—नीतिवाक्यामृत २८९ पत्र

३—जन्मैकमात्माधिगमो द्वितीयं भवेन्मुनीनां व्रत-कर्मणा च।
अमी द्विजाः साधु भवन्ति तेषां, सन्तर्पणं जैनजनः करोतु॥
—यशस्तिलक चम्पू पत्र १०८

४—सुवर्णरौप्यविद्रुम-मौक्तिका जपमालिकाः।
उपवाससहस्राणां, फलं यच्छन्ति जन्तवः॥
—भाव-संग्रह—देवसेन सूरि

पर जप किया जाए तो उपचार सही होता है, मध्यमा-जप से धन-सुख आदि मिलते हैं। अनामिका जप से शान्ति होती है[1]।

"अन्त्यजों द्वारा खोदे हुए कुए, बावड़ी, पोखरणी, तालाब आदि का पानी स्नान पान के लिए नहीं लेना चाहिए[2]।"

"व्रत भ्रष्ट व्यक्ति और अन्त्यज व्यक्ति के दीखने पर, उनकी वाणी सुनने पर, छींक आने पर, अधोवात होने पर जप छोड़ देना चाहिए[3]।"

उक्त धारणाएं विकार हैं और वे जैन तत्त्व की नींव पर प्रहार करने वाली हैं। ये सब तान्त्रिक और ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव की प्रतिरेखाएं हैं।

आचार्य हरिभद्र का दानाष्टक बढ़ती हुई दान की प्रवृत्ति का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है। उसमें भगवान् महावीर को महात्मा बुद्ध से इसलिए महान् बताया है कि उन्होंने दीक्षा के पूर्व अधिक दान दिया था।

पौराणिक युग में अर्थवाद की सीमा ने यथार्थवाद पर परदा डाल दिया। धार्मिक लोगों ने अपने-अपने पूज्य देवों के लिए इतनी लम्बी चौड़ी कल्पनाएं गढ़ीं कि उनसे उनका यथार्थ जीवन ढंक गया। देव, गुरु और धर्म की महत्ता का मान-दण्ड अतिशयोक्तियां बन गईं। जैन पुराणों में भगवान् शांतिनाथ के पूर्व-जन्मों का विवरण दिया है। उनमें उनके तीर्थंकर-गोत्र बंधने की जो प्रवृति उल्लिखित की है, वह करुणा की ओर जैनों के झुकाव का संकेत देती है। बाज से कबूतर को छुड़ाने के लिए राजा ने अपना मांस दिया। उस कर्म से वे तीर्थंकर बने—ऐसा लिखा गया। सही स्थिति में यह महाभारत की शिवि द्वारा अपना मांस देने की प्रसिद्ध कथा का अनुकरण है और यह लोकाकर्षण के लिए किया गया है[4]। इसमें संदेह का अवकाश नहीं। बौद्धों में

१—अंगुष्ठजापो मोक्षाय, उपचारे तु तर्जनी।
मध्यमा धनसौख्याय, शान्त्यर्थं तु अनामिका॥ —धर्मरसिक

२—अन्त्यजैः खनिताः कूपा, वापी पुष्करिणी सरः।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं, स्नानपानाय च क्वचित्॥ —धर्मरसिक ३।५९

३—व्रतच्युतान्त्यजातीनां, दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने, जृंभणे जपमुत्सृजेत्॥ —धर्मरसिक ३३

४—महाभारत वन पर्व।

भी बुद्ध की जीवन घटनाओं में ऐसी घटना जुड़ी हुई है। बौद्ध वैदिक और जैन, इन तीनों के पौराणिक चरित्रों में ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका आपस में आदान-प्रदान हुआ है।

मांस-दान की घटना जैन धर्म की मौलिक मान्यता नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए दूसरा प्रमाण लीजिए। एक ओर जैन परम्परा के पौराणिक आचार्य मांस-दान की प्रवृत्ति को तीर्थंकर बनने का हेतु मानते हैं, दूसरी ओर दार्शनिक आचार्य महात्मा बुद्ध को कोसते हैं। आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—'स्वमांस दानेन वृथा कृपालुः[1]'—यह आक्षेप बुद्ध की मांस देने की प्रवृत्ति पर किया गया। इसी का विस्तृत रूप उनकी दूसरी रचना 'योगशास्त्र' (२।१) में मिलता है :—

"निपत्य ददतो व्याघ्र्याः, स्वकायं कृमिसंकुलम्।
देयादेय विमूढस्य, दया बुद्धस्य कीदृशी॥

देय और अदेय का विवेक रखे बिना बुद्ध ने बाघिन को अपना मांस खिलाया, वह कैसी दया?"

आचार्य सिद्धसेन ने भी यही भाव जताया है :—

"कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु, स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं, स्वतः कृपां सञ्जनयन्त्यमेधसः॥"

दूसरी बात यह है कि जैन आचार्य किसी भी स्थिति में मांस-दान को अनुचित मानते रहे हैं। जैसे :—

'न य अगणियमुहदाणं, तु कथए समय पडिसेहा[2]।'

इसी के आगे 'तथाहि' और "अन्यत्राप्युक्त" इनके द्वारा दो गाथाएं उद्धृत की हैं :—

तथाहि :—

महुमज मंस मूल भेसज्ज, सत्थग्गिजंतमंताइं न कथा विहु दायव्वं, सड्ढेहिं पापभीरुहिं॥ १४॥

१—अयोग व्यवच्छेदिका ६

२—धर्मरत्न प्रकरण, विमल कथा १३

अन्यत्राप्युक्तं :—

न ग्राह्याणि न देयानि, पंचद्रव्याणि पण्डितैः।
अग्निर्विषं तथा शस्त्रं, मद्यं मांसञ्च पंचमम् ॥ १५ ॥

इनका तात्पर्य यही है कि श्रावक को अग्नि, विष, शस्त्र, मद्य-मांस आदि का दान नहीं देना चाहिए।

अब कुछ विचार करिए। यदि मांस दान से मेघवाहन तीर्थंकर बनने की क्षमता पैदा कर सकता है; तब महात्मा बुद्ध की मांस-दान की प्रवृत्ति की निंदा क्यों? और यदि मांस-दान से मेघवाहन तीर्थंकर बना तो किसी भी स्थिति में मांस देने का निषेध क्यों? परन्तु इन विरोधी प्रवृत्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह स्थिति अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। एक ओर जैन परम्परा मोहजन्य करुणा को धर्म-साधना नहीं मानती थी, दूसरी ओर उसे धर्म मानने वालों का संख्या-बल प्रबल हो चुका था। जैन इन दोनों स्थितियों के बीच में थे। उनकी आन्तरिक श्रद्धा मोहजन्य प्रवृत्तियों (राग की परिणतियों) को धर्म मानने से इन्कार करती थी और जनमत उन्हें इस ओर खींच रहा था। फलतः प्रारम्भ में वे कुछ झुके। उन्होंने अनुकम्पा कृत कार्यों को अनिषिद्ध बताया। इसकी चर्चा हमें 'अनुकम्पा दान का भगवान् ने निषेध नहीं किया'—इस रूप में अनेक ग्रन्थों में मिलती है। आगे चलकर यह पुण्य स्कन्ध के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। वर्तमान में कई जैन इसे धर्म—मोक्ष-साधना भी कहने लगे हैं।

व्यवहार के लिए संघर्ष

जैन धर्म आत्म-धर्म के सिवाय और कुछ नहीं। सामाजिक प्राणी को व्यवहार-धर्म चाहिए। वैदिक विद्वानों ने इस पहलू को मुख्य बनाकर पूरा लाभ उठाया। जैनों को अपनी ओर खींचने लगे। दूसरे उन्होंने भक्ति-मार्ग का ऐसा स्रोत बहाया कि जनता उसमें बह चली। त्याग-तपस्यामूलक कठोर जैन धर्म जनता से परे हो चला। जैन आचार्य इस स्थिति से लड़ते रहे। आखिर उन्हें स्थिति से समझौता भी करना पड़ा। उसका संकेत हमें एक प्राचीन श्लोक में मिलता है :—

"वैदिको व्यवहर्तव्यः, ध्यातव्यः परमः शिवः।
श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्त्तव्यः पुनरार्हतः ॥

"व्यवहार वैदिक धर्म का पालन करना चाहिए, ध्यान शैव पद्धति से करना चाहिए, बौद्ध धर्म सुनना चाहिए और जैन धर्म की आराधना करनी चाहिए।

सोमदेव सूरि ने जो लिखा है :—

"सर्व एवहि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानि र्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥"

यह उसी स्थिति में लिखा गया है, जब जैनों पर दूसरे लोग यह आक्षेप करते कि ये व्यवहार को मानकर नहीं चलते। उन्होंने बताया कि जैन श्रावकों को वे सब लौकिक विधियां मान्य हैं, जिनसे सम्यक्त्व और व्रत दोष न लगे।

उपाध्याय समयसुन्दर जी ने विशेष शतक में हरिभद्र सूरि की आवश्यक वृहद् वृत्ति का उल्लेख करते हुए बताया है कि श्रावक अन्य-दर्शनी को धर्म बुद्धि से दान दे तो सम्यक्त्व में दोष लगता है। अनुकम्पा-बुद्धि से दे तो वह दूसरी बात है। उसका निषेध नहीं है। आगे चलते-चलते एक श्लोक उद्धृत किया है उसका अर्थ है—पात्र और अपात्र का विचार सिर्फ मोक्ष-दान के प्रसंग में होता है। दया-दान का कहीं भी निषेध नहीं है। जगह-जगह यह लिखा गया है कि अनुकम्पा दान या दया-दान का निषेध नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि जैन आचार्यों ने इसे रक्षा-सूत्र के रूप में बरता है। इसके द्वारा उन्होंने लोक-व्यवहार उठाने के आरोप का समाधान किया, तीर्थंकरों ने करुणा-दान या मोह-दया—जो व्यावहारिक प्रवृत्तियां हैं, में पुण्य है—यह नहीं बताया। व्यवहार से लड़ते-लड़ते भी उन्होंने तत्त्व को यकायक नहीं बदला—यह मध्यवर्ती साहित्य के मनन से स्पष्ट होता है।

तत्त्व के दो रूप

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—अन्तरंग और बहिरंग या व्यावहारिक और पारमार्थिक या लौकिक और लोकोत्तर। वैदिक साहित्य में इन्हें अपर और पर तथा जैन साहित्य में द्रव्य और भाव भी कहा जाता है। मुण्डक उपनिषद् (१।१५) में दो प्रकार की विद्यायें बताई हैं—अपरा और परा। आवश्यक सूत्र (२ लोगस्स वृत्ति) में समाधि के दो रूप बताये हैं—द्रव्य-

समाधि और भाव-समाधि[१]। आचार्य भिक्षु ने 'द्रव्य-लाभ' और भाव-लाभ' 'द्रव्य-कुश्रा' और भाव-कुश्रा', 'द्रव्य-साता'[२] और 'भाव-साता' यूं इनके दो-दो रूप बताये हैं[३]।

आचार्य भिक्षु दया-दान के विरोधी नहीं थे। वे लौकिक धर्म को मुक्ति का धर्म मानने के लिए कभी तैयार नहीं थे, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है। "जो व्यक्ति लौकिक कार्यों को मुक्ति-धर्म मानते हैं, उनके लिए सूत्र (शास्त्र) शस्त्र की भाँति परिणत हो रहे हैं। वे हिंसा का समर्थन कर कर्म बाँध रहे हैं[४]।" उनकी इस वाणी में 'मुगती रो धर्मो' जो है, वही मतभेद या विरोध का केन्द्र-बिन्दु है। लौकिक कार्यों को लोक-धर्म माना जाता तो उन्हें विरोध क्यों होता? लोक-विधि के लिए लौकिक कर्तव्य, व्यवहार, सहयोग आवश्यक जो होता है, उसका विरोध करने वे क्यों चलते? उनके समूचे विचार का थोड़े में सार यह है कि लोक-धर्म को मोक्ष-धर्म मत समझो। जो वस्तुएं मोक्ष के लिए हैं, उन्हें मोक्ष के लिए समझो और जो संसार के लिए हैं, उन्हें संसार के लिए। संसार और मोक्ष का मार्ग एक नहीं है। संसार का मार्ग हिंसा का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग अहिंसा का। इसीलिए उन्होंने लिखा है—

"संसार नै मुक्ति रा मारग न्यारा, ते कठे न खावै मेलो[५]।"

संसार-मार्ग और मोक्ष मार्ग की द्विविधता बतलाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"एक साहूकार के दो स्त्रियाँ थीं। एक ने रोने का त्याग किया,

---

१—विशेष जानकारी के लिए देखिए।

—स्थानांग १०।३।११ और सूत्रकृतांग वृत्ति ११।१०।२२

२—द्रव्ये साता ने भावे साता, मूरख भेद न जाणै।

सावद्य साता जिण धर्म थोरे, ज्ञानी बिन कुण पिछणै॥

—व्रताव्रत चौपई ११।९

३—अनुकम्पा ८।१

४—कहै मुगती रो धर्मो, त्यानै सूत्र शस्त्र ज्यूं परगमिया।

ते हिंसा दढाय, बांधै मूढ़ कर्मो॥ —व्रताव्रत चौपई ७।११

५—व्रताव्रत चौपई ३।३

वह धर्म का विवेक रखती थी। दूसरी धर्म का मर्म नहीं पहचानती थी। पति चल बसा। एक नहीं रोती; दूसरी रोती है। लोग आये। दूसरी की सराहना करने लगे—यह धन्य है, पतिव्रता है। पहली जो नहीं रोती, की निन्दा होने लगी—यह पापिनी चाहती थी कि पति मर जाए। इसके आँसू क्यों आये?

इस स्थिति में संयमी किसे सराहे? जो नहीं रोई उसे सराहेगा, यह प्रत्यक्ष है। संसार का मार्ग भिन्न है और मोक्ष का मार्ग भिन्न[1]।

आत्म-दया और लौकिक दया

'दान-दया दोनूं मारग मोक्ष रा'[2]—दान और दया दोनों मोक्ष के मार्ग हैं। किन्तु इन्हें समझना होगा। बिना समझे मार्ग कैसे मिलेगा। वे कहते हैं—

"दया दया सब कोइ कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नै पालसी, त्यां रै मुक्ति नजीक[3] ॥"

मोक्ष के लिए जो दया है, वह अभय-दान है[4]। जो प्राणी मात्र को मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं नहीं मारता है, नहीं मरवाता है और मारने वाले को भला नहीं समझता—यह अभयदान है[5]। मोक्ष के लिए जो दया है वह संयम है—हिंसा त्याग है[6]। मनसा, वाचा, कर्मणा जीव मात्र की हिंसा

१—भिक्षु-दृष्टान्त १३०

२—व्रताव्रत चौपई १

३—अनुकम्पा चौपई ८।१

४—अभयदान दया कही, श्री जिन आगम मांय।

—अनुकंपा चौपई ६।२ दोहा

५—पोते हणै हणावै नहीं, पर जीवां रा प्राण।
हणै जिण नै भलो जाणै नहीं, ए नव कोटि पचखाण ॥

—अनुकंपा चौपई ६।१ दोहा

त्रिविधे २ छै काय जीवां नै, भय नहीं उपजावै ताम।
ए अभय दान कह्यो भगवंते, ए पिण दया रो नाम ॥

—अनुकंपा चौपई ९।४ दोहा

६—त्रिविधे २ छ काय मारण रा, कोई त्याग करै मन शुद्ध।
या पूरी दया भगवंते आखी, तिण स्यूं पाप रा बारणा रुद्ध ॥

—अनुकंपा चौपई ९।५ दोहा

न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना—तीर्थङ्करों की वाणी में आत्म-दया का यही स्वरूप है[1]। इसी से संसार-समुद्र का पार आता है[2]।

एक लौकिक दया भी है। उसके अनेक रूप हैं[3]। वह संसार का उपकार है। उसे मुक्ति का मार्ग कहना एक प्रकार का व्यामोह है[4]।

अहिंसा महाव्रत है, दया उसमें समाई हुई है[5]। अहिंसा से अलग दया नहीं है। असंयम हिंसा है। हिंसा है वह दया नहीं है। इसीलिए असंयम से सम्बन्ध रखने वाला जीवन, मृत्यु, पोषण, तृप्ति, पूर्ति असहयोग आदि-आदि सब आत्म-दया नहीं हैं और इसलिए नहीं हैं कि इनमें हिंसा का स्थूल या सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है, राग, द्वेष और मोह की पुट रहती है[6]।

संयममय जीवन, मृत्यु, पोषण, सहयोग आदि-आदि सब आत्म-दया है। इससे आत्म-शुद्धि होती है। मोह नहीं बढ़ता। आचार्य भिक्षु ने मोक्ष-दया,

---

१—त्रिविधे २ छ काय न हणाणी, या दया कही जिनराय।

—अनुकंपा चौपई ९।३ दोहा

छ काय हणै हणावै नहीं, हणियां भलो न जाणै ताय।
मन, वचन, काया करी, या दया कही जिनराय॥

—अनुकंपा चौपई ८।३ दोहा

२—या दया चोखै चित्त पालसी, तिरै घोर रूद्र संसार।
वले बाहिज दया परूप नैं, भवि जीवां नै उतारै पार॥

—अनुकंपा चौपई ८।४ दोहा

३—एक नाम दया लौकीक री, जिण रा भेद अनेक।

—अनुकंपा चौपई ८।५ दोहा

४—ए संसार तणा उपगार कियां मैं, मुक्ति रो मार्ग मूढ़ बतावै।

—अनुकंपा चौपई ८।५ दोहा

५—थां हिंज दया छै महाव्रत पहिलो, तिण में दया-दया सर्व आई।
पूरी दया तो साधु जी पालै, बाकी दया रही नहीं कांई॥

—अनुकंपा चौपई २।८ दोहा

६—अनुकंपा चौपई ९।३७,३८,३९ दोहा

मोक्ष-दान मोक्ष-उपकार तथा संसार-दया संसार-दान और संसार-उपकार को परखने की एक ऐसी कसौटी रखी है, जिसमें खोट नहीं चलती। जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मोक्ष के मार्ग हैं—आत्म-गुण हैं[1]। इनकी साक्षात् वृद्धि करने वाले दया, दान और उपकार मोक्ष के साधक हैं और जिनसे ये न बढ़ें, वैसे दया, दान और उपकार संसार के साधक हैं[2]।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के बिना और कोई मुक्ति का उपाय नहीं है[3]। इनके सिवाय बाकी के जितने उपकार हैं वे सब संसार के मार्ग हैं[4]।

अज्ञानी को कोई ज्ञानी बनाये, मिथ्या-दृष्टि को सम्यग् दृष्टि, असंयमी को संयमी और अतपस्वी को तपस्वी—यह मोक्ष-धर्म या मोक्ष-उपकार है।

१—ज्ञान, दर्शन, चारित्र नै तप, मोक्ष जावा हो मारग छै चार।

—अनुकंपा चौपई ९।६५ दोहा

२—विशेष जानकारी के लिए देखिए —अनुकंपा ढाल ११

३—ज्ञान, दर्शन, चारित्र बिना, और नहीं मुक्ति रो उपाय।
छाड़ा मेला उपगार संसार ना, तिण थी शुद्ध गति किण विध थाय॥
जितरा उपगार संसार ना, ते तो सगलाइ सावद्य जाण।
श्री जिन धर्म में आवै नहीं, कूड़ी मत करो ताण॥
अज्ञानी रो ज्ञानी किया थकां, हुवै निश्चै पेलारो उद्धार।
कियो मिथ्याती रो समगती, तिण उतार्‌यो भव पार॥
असंजती नो कियो संजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल।
तपस्या कर पार उतारियो, तिण मेट्या सर्व हवाल॥
ज्ञान, दर्शन, चारित्र ने तप यां रो करै कोई उपगार।
आप तिरै पेलो उद्धरै, दोयां रो खेवो पार॥
ए चार उपगार छै मौटका, तिण मैं निश्चै इ जाणो धर्म।
शेष रह्या काम संसार ना, तिण कीधां बंधसी कर्म॥

—अनुकंपा ४।१७ से २२ तक दोहा

४—जीवां नै जीवां बचावियां हुवै, संसार तणौ उपगार।

—अनुकंपा १२।८

उमास्वाति के मोक्ष-शास्त्र का पहला सूत्र—'सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्ष-मार्गः'—यही तत्त्व बता रहा है और यही तत्त्व उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर ने बताया है—

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नतो जिणेहिं वरदंसिहिं।"

—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मार्ग है[1]।

क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ने इस पर बड़ा मार्मिक प्रकाश डाला है। वे अमृतचन्द्र सूरि के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"अप्रादुर्भावः खलु, रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति-हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥"

—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय।

"निश्चय ही जहाँ पर रागादिक परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती, वहीं अहिंसा की उत्पत्ति है, और जहाँ रागादिक परिणामों की उत्पत्ति होती है वहीं पर हिंसा होती है, ऐसा जिनागम का संक्षेप में कथन जानना।"

"यहाँ पर रागादिकों से तात्पर्य आत्मा की परिणति-विशेष से है। पर पदार्थ में प्रीति-रूप परिणाम का होना राग तथा अप्रीति-रूप परिणाम का होना द्वेष और तत्त्व के अप्रीति रूप परिणाम का होना मोह अर्थात् राग, द्वेष; मोह—ये तीनों आत्मा के विकार भाव हैं। ये जहाँ पर होते हैं, वहीं आत्मा कलि (पाप) का संचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द-राग हुआ, तब परोपकारादि कार्यों में व्यग्र रहता है, तीव्र-राग-द्वेष हुआ, तब विषयों में प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापों में मग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। जहाँ आत्मा में राग-द्वेष नहीं होते वहीं अहिंसा का पूर्ण उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष मार्ग है······परमार्थ से देखा जाए तो जो आत्मापूर्ण अहिंसक हो जाती है, उसके अभिप्राय में न तो पर के उपकार के भाव रहते हैं और न अनुपकार

१—२८।२

के भाव रहते हैं। अतः न उनके द्वारा किसी के हित की चेष्टा होती है और न अहित की चेष्टा होती है[1]।"

अहिंसा ही दया है

अहिंसा और दया दोनों एक हैं। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से दोनों में भेद जान पड़ता है। अर्थ की दृष्टि से पाप से बचने या बचाने की जो वृत्ति है, वही अहिंसा है और वही दया है। यह दया के आध्यात्मिक स्तर की बात है। उसका लौकिक स्तर अहिंसा से अलग होता है। उसकी दृष्टि में सुख-सुविधा और जीवन के स्थायित्व का मूल्य होता है। अहिंसा-दृष्टि का उद्देश्य होता है—संयम-विकास। लौकिक करुणा की वृत्ति होती है—जीव न मरे यानी मरने वाला मौत से बच जाय। अहिंसा की दृष्टि है—मरने वाला पाप से बचे—उसकी हिंसा छूटे। मारने वाला हिंसा के पाप से बच जाए, ऐसी करुणा या दया होती है, वह अहिंसा ही है। मरने वाला मौत से बच जाए—ऐसी दया या करुणा का अहिंसा से सम्बन्ध नहीं होता।

अहिंसा के स्थान में दया का प्रयोग होता है, वह हिंसा से बचने-बचाने के अर्थ में ही होता है। उत्तराध्ययन में लिखा है[2]—"प्राणी दया के लिए मुनि आहार न ले"—तात्पर्य कि सूक्ष्म जीव जमीन पर छा जाए, ऐसी स्थिति में मुनि उन जीवों की रक्षा के लिए यानी हिंसा से बचने के लिए भिक्षा के लिए न जाए। सूत्रकृतांग में बताया है[3]—

"सब जीवों की दया के निमित्त मुनि अपने लिए बनाया हुआ भोजन

१—अहिंसा तत्त्व। लेखक—क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य।
—अनेकान्त वर्ष ९ किरण ६ जून १९४८

२—उत्तराध्ययन २६।३५

३—सव्वेसिं जीवाण दयट्ठयाए, सावज्ज दोसं परिवज्जयंता।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति॥
सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वग्रहणं, 'दयार्थतया' दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष इत्येवं मत्वा तं परिवर्जयन्तः।
—सूत्रकृतांग-वृत्ति २।६।४०

न ले।" यहाँ दया का प्रयोग हिंसा से बचाव करने के अर्थ में हुआ है। इसलिए यह दया अहिंसा ही है।

जो हिंसा नहीं करता, वह सभी जीवों की दया करता है। "प्रासुक और निर्दोष आहार को सेवन करता हुआ मुनि धर्म का अतिक्रमण नहीं करता—धर्म का अतिक्रमण नहीं करता हुआ वह त्रस तथा स्थावर जीवों की अनुकम्पा करता है[1]।"

अनुकम्पा के दो रूप

अनुकम्पा हृदय का द्रवीभाव या कम्पन है। वह अपने आपमें बन्धन या मुक्ति कुछ भी नहीं है। मोहात्मक कम्पन बन्धन का और निर्मोहात्मक कम्पन मुक्ति का हेतु बनता है। पहला लौकिक है और दूसरा आध्यात्मिक। अनुकम्पा आध्यात्मिक ही होती है—ऐसा नियम नहीं। पौद्गलिक सुखपरक मानसिक एकाग्रता या ध्यान लौकिक होता है और आत्मपरक ध्यान आध्यात्मिक। ठीक यही बात अनुकम्पा के लिए है। भगवान् महावीर की वाणी में देखिए :—

"अभयकुमार की अनुकम्पा कर उसके मित्र देव ने अकाल-वर्षा की[2]।" यह अनुकम्पा आत्मपरक नहीं है।

दूसरा प्रसंग मेरुप्रभ हाथी का है। उसने खरगोश की अनुकम्पा के लिए अपना पैर नीचे नहीं रखा, कष्ट सहा, संयम किया, यह दया आत्मपरक है, मोह रहित है[3]।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

"न मोहजन्यां करुणामपीश! समाधिमास्थाय युगाश्रितोसि"—"भगवन्! आपने मोहजन्य करुणा को कोई स्थान नहीं दिया[4]।"

१—गोयमा! फासु—एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नो अइक्कम्मइ, आयाएधम्मं, अणइक्कम्ममाणे पुढविकाइयं अवकंखति, जाव तसकायं अवकंखई। —भगवती १।९

२—अभयकुमारं अणुकंपमाणो देवो···ज्ञाता १

३—ज्ञाता १।२७

४—अयोगव्यवच्छेदिका १८

श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है—"अनुकम्पा सावद्य निरवद्य नुं न्याय कहै छै—जे मोह राग थकी हियो कंपायमान हुवे ते सावद्य अनुकम्पा अने वैराग थी हियो कंपायमान हुवै ते निरवद्य अनुकम्पा[१] ।"

श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं :—

"हे काम ! हे मान ! हे संघ उदय ! हे वचनवर्गणा ! हे मोह ! हे मोह-दया ! हे शिथिलता !...तमे शा माटे अन्तराय करो छो ? परम अनुग्रह करी ने हवे अनुकूल थाव-अनुकूल थाव[२]।"

'अनुकम्पा' शब्द को लेकर कोई आग्रह नहीं होना चाहिए। वह प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार की हो सकती है। लौकिक दृष्टि से जो प्रशस्त है, वह आत्म-दृष्टि से अप्रशस्त और आत्म-दृष्टि से जो प्रशस्त है वह लौकिक दृष्टि से अप्रशस्त हो सकती है। कृतपुण्य पिछले जन्म में गरीब मां का लड़का था। उसने किसी त्योहार के दिन सबको दूध-पाक खाते देखा। वह मां के पास आकर बोला—'माँ ! मैं भी दूध-पाक खाऊँगा।' नन्हें बच्चे की दीन वाणी ने उसे रुला दिया। पड़ोसियों ने यह देखा। उनके दिल में अनुकम्पा आई। उन्होंने दूध, चावल आदि दिये। यह अनुकम्पा-दान व्यवहार-दृष्टि से प्रशस्त है[३]।

बन्दरों के यूथपति ने मुनि की अनुकम्पा की यानि भक्ति की। यह संयम की दृष्टि से प्रशस्त अनुकम्पा है[४]। इसी प्रकार मेतार्य ने क्रौंच पक्षी की अनुकम्पा की। वे जानते थे—स्वर्ण यव इस पक्षी ने खाये हैं। सोनार ने उनसे पूछा किन्तु वे कुछ भी नहीं बोले। उसका हेतु था—प्राणी-दया। उन्होंने सोचा—सही स्थिति बतलाने का अर्थ होगा—क्रौंच की मृत्यु। 'मैं उसका हेतु न बनूँ'—इस अनुकम्पापूर्ण भावना से वे नहीं बोले, संयम में स्थिर

१—चर्चा रत्नमाला बोल २१२।

२—तत्त्व-ज्ञान पृष्ठ १२९

३—ताहिं अणुकंपयाए अण्णाएवि अण्णाएवि आणियं खीरं सालितंदुलाय।
—आवश्यकवृत्ति-मलयगिरि।

४—सुसाधोरनुकम्पया परमभक्त्यपरपर्यायया वानरयूथपतिः देवो जातः।
—आवश्यकवृत्ति-मलयगिरि।

रहे, अपने प्राण न्योछावर कर दिए। यह है आत्म-दृष्टि से प्रशस्त अनुकम्पा या आत्म-विसर्जन[1]।

परिभाषा की दृष्टि से रागात्मक या करुणात्मक अनुकम्पा लोक-दृष्टि से प्रशस्त है। अरागात्मक या अहिंसात्मक अनुकम्पा आत्म-दृष्टि से प्रशस्त है।

शब्द की अनेकार्थकता के कारण बड़ी उलझनें पैदा होती हैं। भगवान् महावीर कहते हैं—"राग और द्वेष—ये दो कर्म बीज हैं[2]—ये दोनों बन्धन हैं[3]।" राग से किए हुए कर्मों का फल-विपाक पाप होता है[4]। दूसरी ओर उन्हीं की वाणी में 'धर्मानुराग' जैसा प्रयोग मिलता है और वह मुक्ति का हेतु माना गया है। राग शब्द के इस दो अर्थ वाले (द्व्यर्थक) प्रयोग से हमें जानने को मिला कि असंयम बढ़ाने वाला राग ही कर्म का बीज, बन्धन और पाप फलकारक है। संयम के प्रति होने वाली अनुरक्ति केवल शब्द मात्र से राग है, वास्तव में नहीं, इसलिए वह कर्म बीज, बन्धन व पाप फलकारक नहीं है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए पूर्वाचार्यों ने राग-द्वेष के दो-दो भेद कर डाले :—

१—प्रशस्त राग	१—प्रशस्त द्वेष
२—अप्रशस्त राग	२—अप्रशस्त द्वेष

अरिहन्त—जिन, सिद्ध, साधु और धर्म के प्रति होने वाला राग प्रशस्त है[5]। दृष्टि-राग, विषय-राग और स्नेह-राग—यह त्रिविध राग अप्रशस्त

१—प्राणिदयया हेतुभूतया क्रौञ्चकं नाचष्टे—अनुकम्पया न च संयमाच्चलितो मेतार्यः। —आवश्यक-वृत्ति-मलयगिरि। ८६९।८७०

२—उत्तराध्ययन ३२।७

३—आवश्यक श्रमणसूत्र ४

४—रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो। —औपपातिक ६।१३३

५—प्रशस्तस्तु रागोऽर्हदादिविषयः

उक्तञ्च :—

(क) "अरहंतेसु य रागो, रागो साहूसु बीयरागेसु।
एस पसत्थो रागो, अज्जसरागाणसाहूणं॥"

—आवश्यक वृत्ति मलयगिरि। ९१८

है[1]। यही बात द्वेष की है। अज्ञान और असंयम के प्रति जो द्वेष होता है, वह प्रशस्त है और मोहोदय के कारण होने वाला द्वेष अप्रशस्त[2]। इस प्रकार हमें समझना होगा कि किसी भी शब्द को एक ही अर्थ में बाँधा नहीं जा सकता। इसलिए शब्द को लेकर खींचतान नहीं होनी चाहिए। अनुकम्पा मात्र मोक्ष का साधन है, यह भी एकान्त है। अनुकम्पा मोक्ष का साधन है ही नहीं—यह भी एकान्त है। हम सत्य को अनेकान्त दृष्टि से पा सकेंगे। उसके अनुसार जो अनुकम्पा राग-भावना-रहित है, वह मोक्ष की ओर ले चलती है, इसलिए वह उसका साधन है और रागात्मक अनुकम्पा प्राणी को मोक्ष की ओर नहीं ले जाती, इसलिए वह उसका साधन नहीं है। सार इतना ही है। इससे आगे जो कुछ है, वह सब प्रपंच है।

करुणा

करुणा दुःख से उत्पन्न होती है। दुःखी की दीन दशा देख द्रवित होना स्वाभाविक जैसा लगता है किन्तु वह स्वभाव-वृत्ति नहीं, संस्कार-प्रधान कार्य है। जैसा संस्कार होता है, जैसे संस्कार में जीवन चलता है, वैसा संस्कार अनुकूल सामग्री पा उभर आता है। निर्मोह दशा में वृत्तियां उद्वेलित नहीं होतीं। वीतराग व्यक्ति भी प्राणी को दुःख-मुक्ति का मार्ग बताते हैं, दुःख से छुटकारा दिलाते हैं किन्तु मोही और निर्मोही के मतानुसार दुःख की परिभाषाएं दो होती हैं। उनकी दुःख-निराकरण की विधियां भी समान नहीं होतीं। मोही व्यक्ति दुःख में दीन और सुख में उन्मत्त बन जाता है। वीतराग

(ख) अरहंत सिद्धसाहुसु, भत्ती धम्ममि जाय खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरुणं, पसत्थ रागोत्ति वुच्चंति ॥

—पञ्चास्तिकाय १४४

१—अप्रशस्त स्त्रिविधः —तद्यथा—दृष्टिरागः विषयरागः स्नेहरागश्च।

—आवश्यक-वृत्ति-मलयगिरि ९१८

२—(द्वेषः) स च द्विधा प्रशस्तः अप्रशस्तश्च। तत्र प्रशस्तः अज्ञानादिगोचरः, तथाहि अज्ञानमविरतिञ्च द्विषन् ज्ञाने विरतौ च सम्यग् यतते इति तस्य प्राशस्त्यम्। —आवश्यक-वृत्ति-मलयगिरि। ९१८

सुख-दुःख में मध्यस्थ रहता है। मोही व्यक्ति क्षणिक दुःख के उपचार को साध्य मानता है। वीतराग का साध्य होता है– दुख के कारण का उच्छेद।

महात्मा बुद्ध करुणा-प्रधान थे। उन्होने मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा— ये चार भावनाएं बताईं। जैन साहित्य में भी ये भावनाएं मान्य हुई हैं किन्तु ये उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा बौद्ध दर्शन से ली गई हैं—ऐसा सम्भव है[1]। सच यह है कि जैन दर्शन में अहिंसा की प्रधानता है। करुणा की प्रधानता नहीं। मोक्ष-मार्ग के रूप में अहिंसात्मक करुणा ही मान्य है, मोहात्मक करुणा मान्य नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—प्रभो! समाधि और माध्यस्थ में रहने वाले तुम मोहजन्य करुणा का आश्रयण नहीं करते। "दूसरी व्याख्या के अनुसार—प्रभो! तुम समाधि को पाकर अन्य देवों की भांति मोहजन्य करुणा के वशवर्ती बन युग-युग में जन्म धारण नहीं करते[2]!" उपाध्याय विनयविजय जी ने करुणा भावना का अहिंसक रूप जो दिखाया है, वह जैन सम्मत करुणा का सही चित्रण है। उन्होंने दुःख के कारणों को उखाड़ फेंकने की बात बताई है। उनकी पर-दुख-प्रतिकार की विधि मोक्ष-मार्ग के अनुकूल है। भगवान् महावीर के शब्दों में—"आरंभजं दुक्ख-मिणंति णच्चा[3]"—दुख हिंसा से पैदा होता है, इसलिए—

"अग्गं च मूलं च विगिं च धीरे, पलिछिंदियाणं निक्कम्मदंसी"

हे धीर! तू कर्म या दुःख के मूल को और अग्र को आत्मा से अलग कर—इस प्रकार आत्मदर्शी बन[4]। "यह तत्त्व गहरा है और इसकी भूमिका ऊँची है। व्यवहार के क्षेत्र में यह दुर्बोध्य भी है। फिर भी "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य"—धर्म की गति सूक्ष्म है, यह हम नहीं भुला सकते[5]।

१—(क) चिनु चित्ते भृशं भव्य! भावना भाव शुद्धये।
या सिद्धान्त महातंत्रे, देवदेवैः प्रतिष्ठिता॥ —ज्ञानार्णव २७।५

(ख) चतस्रो भावना धन्याः, पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते, ध्येया धर्मस्य सिद्धये॥ —ज्ञानार्णव २७।४

२—अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका १८

३—आचारांग शीतोष्णीय।

४—आचारांग शीतोष्णीय।

५—महाभारत १०।७०।

वैराग्य

वैराग्य का अर्थ है—आत्मा से अन्य वस्तुओं के प्रति उपेक्षा। संयोग का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मृत्यु में—यह जीवन के प्रति उपेक्षा है[१]। जो सर्वत्र एकत्व देखता है, उसे कैसा मोह और कैसा शोक—यह सामाजिक सम्बन्धों के प्रति उपेक्षा है[२]। माता पिता तेरे नहीं—यह परिवार के प्रति उपेक्षा है। जो सुख-दुःख दोनों को छोड़ता है, वह ब्रह्म को पाता है—यह सुख सुविधा के प्रति उपेक्षा है[३]। धन त्राण नहीं है—यह परिग्रह के प्रति उपेक्षा है। राज्य त्राण नहीं है—यह राज्य-सत्ता के प्रति उपेक्षा है।

एक प्रकार से आत्म-धर्म का अर्थ ही है—संसार के प्रति उदासीनता। उसकी भूमिकाएं पृथक्-पृथक् होती हैं। मनुष्य का विवेक भूमिका के अनुरूप होना चाहिए। वैराग्य कृत्रिम वस्तु नहीं है। वह अन्तरात्मा की सहज प्रेरणा है। उसका दम्भ होता है, वह विकार लाता है। सामाजिक व्यक्ति का वैराग्य समाज की भूमिका के अनुरूप होगा। और साधु का वैराग्य साधु की भूमिका के अनुरूप। सामाजिक व्यक्ति समाज की ऐकान्तिक उपेक्षा नहीं कर सकता, इसलिए यह जो कहा जाता है—वैराग्य असामाजिक है—उचित नहीं। आचार्य भिक्षु आध्यात्मिक दया सम्बन्धी विचार समाज के प्रति उपेक्षा लाते हैं—यह कहना भी उचित नहीं।

अध्यात्म-वाणी और लोक वाणी

(१) त्राण

लोक-वाणी या व्यवहार की भाषा में जहाँ माता-पिता और सगे-सम्बन्धी त्राण माने जाते हैं, वहाँ अध्यात्म-वाणी उन्हें त्राण नहीं मानने की सीख देती है। देखिए—

१—संयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्तं तु जीवितम्।—महाभारत मोक्ष-धर्म २७।३१

२—तत्र को मोहः कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः।—ईशावास्योपनिषद् ७

३—परित्यजति यो दुःखं, सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥

—महाभारत शान्ति पर्व २०५।७

"नालं ते तव ताणाए, वा सरणाए वा,
तुमंपि तेसिं नालं. ताणाए वा सरणाए वा[1]।"

पारिवारिक तुझे त्राण नहीं दे सकते। तू भी उन्हें त्राण नहीं दे सकता।

"वित्तं पसवो य नाइओ, ते बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ[2]॥"

......"अज्ञानी व्यक्ति धन, पशु और ज्ञाति को शरण मानता है किन्तु वे त्राण नहीं होते।"

"एगस्स गती य आगती, विदु मंता सरणं ण मन्नइ[3]"

......"प्राणी अकेला आता है और जाता है, इसलिए विद्वान् किसी को शरण नहीं मानता।"

(२) दुःख-मुक्ति

लोक-वाणी में दुख-मुक्ति का उपाय है—परिग्रह। अध्यात्म-वाणी में उसका उपाय आत्म-निग्रह ही है :—

"अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि[4]।

......"आत्मा का निग्रह कर, इस प्रकार दुःख से मुक्ति मिलेगी।

(३) व्यक्ति प्रधान स्थिति

लोक-वाणी में समाज प्रधान स्थिति है, वहाँ अध्यात्म-वाणी व्यक्ति को ही प्रधान बतलाती है :—

"जाणितु दुक्खं पत्तेयं सायं[5]।

......"सुख-दुःख अपना-अपना होता है।

"अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियायइति,
अन्नेण कडं अन्नो न पडिसंवेदेति।

१—आचारांग १।२।६८
२—सूत्र कृतांग १।२।३।१६
३—सूत्र कृतांग १।२।३।१७
४—आचारांग ३।११७।८
५—आचारांग १।३।६९

पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं पन्ना, एवं विन्नू वेदणा[1] ।

......"दूसरे का दुःख दूसरा नहीं समझता। दूसरे के किये हुए कर्म का दूसरे को संवेदन नहीं होता। व्यक्ति अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, च्यवन और उत्पत्ति भी अकेले की होती है। कलह, संज्ञा प्रज्ञा, विज्ञान और वेदना—ये सभी प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग होते हैं।"

(४) मातृ-पितृ-स्नेह

लोक-वाणी माता-पिता के प्रति स्नेह उत्पन्न करती है। अध्यात्म-वाणी उस स्नेह को बंधन बताती है या उसे वास्तविक सम्बन्ध नहीं बताती :—

"मायाहिं पियाहिं लुप्पइ[2]"

"का ते कान्ता कस्ते पुत्रः[3]"

"माता-पिता के स्नेह में बंधा व्यक्ति मूढ़ बन जाता है।"

"कौन तेरी स्त्री है और कौन तेरा पुत्र।"

१—सूत्र कृतांग २।१।

२—सूत्र कृतांग २।१।१।३

३—मोहमुद्गर ८

आठवाँ अध्याय

१९१-२०९

* दान-विवेक
* सुपात्र -कुपात्र
* पात्र-कुपात्र-विचार
* पुरानी परम्परा
* दस प्रकार के दान

दान-विवेक

आचार्य भिक्षु ने कहा—"संयमी दान मोक्ष का मार्ग है और असंयमी दान संसार का। 'समुच्चय दान में धर्म है'—ऐसा कहने वाले जिन धर्म की शैली नहीं पकड़ सके। उन्होंने गाय और आक के दूध का मिश्रण कर डाला[1]—आचार्य भिक्षु का यह मत था। "असंयमी को दान दो, मत दो—यह उनका प्रतिपाद्य विषय नहीं था[2]। देने वाला देता है, लेने वाला लेता है, उस समय साधु दान के गुण-दोष नहीं बताता[3]। कारण यह है कि साधु किसी के अन्तराय देने का इच्छुक नहीं। तत्त्व-चर्चा या तत्त्व-निरूपण के समय जो वस्तु-स्थिति है उसे प्रगट करना ही चाहिए।"

असंयमी-दान को धर्म न मानना परोक्ष रूप में उसका निषेध नहीं तो क्या है? स्थूल दृष्टि में कुछ ऐसी सी उलझन आती है? पर आचार्य भिक्षु ने इसे बड़ी मार्मिकता से सुलझाया है। वे कहते हैं—"असंयमी दान का निषेध करना और असंयमी दान को संसार-मार्ग या अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु बताना एक बात नहीं है। निषेध वह होता है यदि दान देते को रोके या टोके। किन्तु पाप यानी अशुभ-कर्म-बन्ध को अशुभ-कर्म-बन्ध कहा जाए यह तो

१—समचे दान में धर्म कहै तो, नहिं जिन धर्म सेली रे।
आक ने गांय नो दूध अज्ञानी, कर दियो मेल समेली रे॥

—व्रताव्रत चौपई २।१४

२—साधु तो अन्तराय किण नें न देवै, उण वेलां जीभ क्यां ने हलावै रे।
चरचा रो काम पड़ै तिण काले, हुवै जिसा फल बतावै रे॥

—व्रताव्रत चौपई ३।१०

३—दातार दान देवै तिण काले, लेवाल लेवै धर पीतो रे।
जब साध कहै तूं मत दे इण नै, निषेधणो नहीं इण रीतो रे॥
दातार नैं देतां लेवाल नैं लेतां, साधु इसको देख विरतंतो रे।
जब गुण अवगुण न कहै तिण काले, तिहां मून करै एकंतो रे॥

—व्रताव्रत चौपई ३।१७,२६

निर्मल ज्ञान है, है को है कहना है, वस्तु-स्थिति का सही स्वीकार है। साधु भिक्षा के लिए गया तब उसे एक घर में गाली और आक्रोश मिला, दूसरे घर से अपने यहाँ आने का निषेध मिला। साधु गाली मिली, वहाँ फिर जा सकता है किन्तु निषेध किया, वहाँ नहीं जा सकता। इससे साफ होता है कि कठोर शब्द और निषेध दो वस्तुएं हैं[1]।"

असंयमी दान पाप या अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु है तो कोई क्यों देगा? यह प्रश्न आता जरूर है पर मूल्यवान् नहीं है।

'कोई नहीं देगा'—इसीलिए क्या संसार-मार्ग को मोक्ष-मार्ग बता जनता को भुलावे में डालना चाहिए? 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसे संकल्प को पूरा करने वाला दर्शन 'ज्योतिषो मा तमो गमय' के पथ पर नहीं चल सकता और न उसे चलना ही चाहिए।

सुपात्र-कुपात्र

'तेरापंथी साधु साध्वियों के सिवाय संसार के सब जीव कुपात्र हैं'—तेरापंथ की यह मान्यता कतई नहीं है। आचार्य भिक्षु ने व्यक्तिपरक सिद्धान्त-विवेचन कभी नहीं किया। उन्होंने अमुक सुपात्र और अमुक कुपात्र—यह नहीं कहा—उन्होंने सुपात्र-कुपात्र के लक्षण बताए—इनकी व्याख्या दी[2]।

१—दान देतां कहै तूं मत दे इण नै, तिण पाल्यो निषेध्यो दानो।
पाप हूंता नै पाप बतायो, तिण रो छै निर्मल ज्ञानो॥
असंजती नै दान दियां में, कह दिया भगवंत पापो।
त्यां दान नै बरज्यो निषेध्यो नाहीं, हुंती जिसी कीधी थापो॥
साधु नै बरज्यो तिण घर में न पैसे, करडा कह्या तिण घर मांहि जावै।
निषेध्यो ने करडो बोल्यो ते, दोनूं एकण भाषा में न समावै॥
ज्यूं कोई दान देतां बरज राखै, कोई दीधां मैं पाप बतावै।
ए दोनूं इ भाषा जुदी-जुदी छै, ते पिण एकण भाषा में न समावै॥
—व्रताव्रत चौपई ३।३९-४०-४२-४३

२—आचार्य भिक्षु व्यक्तिगत आलोचनाओं से सदा परे रहते। वे अमुक को अच्छा या बुरा नहीं कहते। वे सामान्यलक्षण देते। उसके कुछ निदर्शन देखिए:—

अध्यात्मवाद के अनुसार सुपात्र-कुपात्र की चर्चा मुख्यतया दान के प्रसंग में आती है। सुपात्र का अर्थ होता है—दान के योग्य और कुपात्र का अर्थ है—दान के अयोग्य।

दान के योग्य या दान का अधिकारी एक मात्र संयमी है। वह भिक्षा मात्र जीवी होता है। भगवान् महावीर ने 'नव कोटि शुद्ध' भिक्षा का जो निर्देश किया है, वह संयमी के लिए ही है। वह संयमी जीवों को न मारता है, न मरवाता है, और न मारने वाले का अनुमोदन करता है। वह न भोजन पकाता है, न दूसरों से पकवाता है और न पकाने वाले का अनुमोदन ही करता है, वह किसी वस्तु को न मोल लेता है, न लेने की प्रेरणा देता है और न अनुमोदन ही करता है[1]। गृहस्थ इस नव कोटि भिक्षा का अधिकारी नहीं है। गृहस्थ गृहस्थ को जो वस्तु का दान देता है, उसे असंयत[2]-धर्म और द्रव्य- धर्म कहा है[3]। दान की दृष्टि से संयमी इसलिए सुपात्र है कि

क—किण ही पूछ्यो—एतला टोला है ज्यां में साध कुण ने असाध कुण? जद स्वामीजी बोल्या—कोई न आंख्या स्यूं न सूझै तिण पूछ्यो—सहर में नागा कीता नै ढंकिया कीता? जद वेद बोल्यो—आंख्यां में औषध घाल नै सुजतो तो हूँ कर देऊं। नागा ढंकिया तूं देख लै। पेलां नाम लेइ असाध कह्यां आगलो कजियो करै तिण स्युं ज्ञान तो म्हे बताय द्यां पछे कीमत तूं कर लै।—भिक्षु दृष्टान्त ९९

ख—वलि कुण ही पूछ्यो—यां में साध कुण, असाध कुण? जद स्वामीजी बोल्या: शहर में साहुकार कुण? दिवाल्यो कुण? लेइ पाछो देवै ते साहूकार, पाछो न देवै, मांग्यां झगड़ो करै ते देवाल्यो। ज्यूं पांच महाव्रत लेइ चोखा पालै ते साध, न पालै ते असाध।—भिक्षु दृष्टान्त १००।

१—समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं नवकोडि परिसुद्धे भिक्खे—पं० तं०—न हणइ, न हणावेइ-हणं तं णाणुजाणइ। न पयइ, न पयावेइ, पयं तं णाणुजाणइ, ण केणइ, ण किणावेइ. किणं तं णाणुजाणइ।

—स्थानांग ९।६८१।

२—असाहुधम्मे—वस्तुदानस्नानतर्पणादिकोऽसंयत धर्मः—सूत्र कृतांग १।१४

३—गृहस्थेभ्यो वा गृहस्थानां यो दान-धर्मः स द्रव्य-धर्मः—सूत्र कृतांग १।९

उसका खान-पान समूचा का समूचा अहिंसामय होता है। संयमी अहिंसक वृत्ति से प्राप्त भिक्षा को अहिंसक शरीर के निर्वाह के लिए अहिंसा-विधि से खाता है। उसका खाना संयममय है, इसलिए उसका भिक्षा पाना भी संयममय है।

जिसका खाना संयममय नहीं उसका पाना भी संयममय नहीं होता। गृहस्थ असंयमी होता है, इसलिए उसका खान-पान अहिंसक शरीर का पोषण नहीं माना जाता। वह न तो अहिंसक विधि से भोजन पाता है और न अहिंसक शरीर के निर्वाह के लिए भोजन करता है। इसलिए वह दान का अधिकारी नहीं और इसीलिए उसे दान की दृष्टि से कुपात्र यानी दान के लिए अयोग्य कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने गृहस्थ को एकान्ततः कुपात्र नहीं माना है। उसके जीवन को दो भागों में बांटा है—संयम-जीवन और असंयम-जीवन या त्याग-जीवन और भोग-जीवन। संयम-जीवन की दृष्टि से गृहस्थ सुपात्र है और असंयम-जीवन की दृष्टि से कुपात्र[1]।

१—श्रावक नै सुपात्र किण न्याय कहीजै, किण न्याय अधर्मी कुपात्र रे।
सूत्र मांहे जोए भवि जीवां, हिया मांहि करो जेम खातर रे ॥ ४।३२
श्रावक सुपात्र वरतां रै लेखै, अव्रत लेखै जहर रो बटको रे।
अव्रत रो इण रै कान पड़ै जद, छ काय रो कर जाय गटकोरे ॥ ४।१८
श्रावक सुपात्र वरतां सूं हुवो, अव्रत सूं अधर्मी जाणो रे।
अव्रत रो इण रै काम पड़ै तो, छ काय रो कर घमसाणो रे। ४।१९
समदृष्टि नै पिण कहीजै सुपातर, ते तो समकित ज्ञान सूं जाणो रे।
उण री अव्रत नैं खोटा कीरतब कीधां, एकान्त कुपात्र पिछाणो रे।
—॥ ४ ६०
सुयगडायंग अध्ययन इग्यारमें, तीन पक्ष तणो विस्तारो रे।
धर्म अधर्म मिश्र पक्ष तीजो, यां तीनां रो सुणो भेद न्यारो रे ॥ ४।३३
सर्व विरत नै धर्म पक्ष कहीजै, अविरत ने अधर्म पक्ष जाणो रे।
कांयक विरत ने कांयक अविरत, मिश्र पक्ष एह पिछाणो रे ॥ ४।३४
धर्म पक्ष मांहे एकंत साधां ने घाल्या, त्यां रै सर्व थकी विरत जाणो रे।
अधर्म पक्ष मांहि असंयती घाल्या, त्यां रै श्रावक नहीं पचखाणो रे
—॥ ४।३५।

सूत्र कृतांग (११) में तीन पक्ष बताये हैं—धर्म, अधर्म और मिश्र (धर्म-अधर्म)। सर्व विरति संयमी धर्म पक्ष में आता है, असंयमी अधर्म पक्ष में, देश-विरति जो व्रती और अव्रती दोनों होता है वह मिश्र पक्ष में। श्रावक—गृहस्थ के व्रत धर्म और अव्रत अधर्म होता है, इसीलिए उसे धर्मी-अधर्मी, संयमी-असंमी, व्रती-अव्रती और बाल पण्डित कहा गया है। व्रत की दृष्टि से श्रावक धर्मी, संयमी, व्रती और पण्डित होता है और अव्रत की दृष्टि से अधर्मी, असंयमी, अव्रती और बाल।

गृहस्थ या श्रावक का खान-पान असंयममय है, इसलिए वह स्वयं खाये या दूसरा उसे खिलाए, वह मोक्ष धर्म नहीं है। गृहस्थ स्वयं पाए या दूसरा उसे दे, वह मोक्ष धर्म नहीं है।

आचार्य भिक्षु गृहस्थ जीवन की हिंसक प्रवृत्तियों की सुपात्रता स्वीकार नहीं करते, यही उनका मार्मिक दृष्टिकोण है। वे कहते हैं—"जो लोग हिंसा की वृत्ति को सुपात्र मानते हैं, वे जिन धर्म या वीतराग मार्ग के अनजान हैं[१]।" गृहस्थ एकान्ततः सुपात्र हो कैसे सकता है? "हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह का सेवन करने वालों को एकान्त सुपात्र मानने वाले अंधेरे

मिश्र पक्ष मांहि श्रावक नै घाल्या, तिण रो न्याय सुणी चित्त ल्यायो रे।
जे व्रत किया ते धर्म पक्ष मांहि, अव्रत छै अधर्म पक्ष मांही रे ॥ ४।३६
तिण सूं श्रावक ने कहीजे धर्मा धर्मी, संजती ने असंजती जाणो रे
वली श्रावक नें कही जे व्रती अव्रती, पण्डित ने बाल दोनूं पिछाणो रे
— ॥ ४।३७
श्रावक नें व्रताकर संयती कहीजै, गुण रत्ना री खाणो रे।
व्रत आदरतां अव्रत राखी, तिण सूं कोरो असंजती जाणो रे ॥ ४।३८
श्रावक रो खाणो पीणो ने गेहणो, अव्रत मांहि जाणो रे।
तिण अव्रत नें असंजती कहीजे, तिण मांहि धर्म म जाणो रे ॥ ४।३९
—व्रताव्रत चौपई

१—छ काय जीवां रो गटको करै छै, छ कायरो करै घमसाणो रे।
इणकिरतब नैं सुपात्र कहै छै, ते जिन मार्ग रा अजाणो रे ॥
—व्रताव्रत चौपई ४।२०

में है[१]।" एक प्राणी को मारने का त्याग करने वाला भी श्रावक हो जाता है। वह उसकी सुपात्रता है किन्तु बाकी की जो हिंसामय प्रवृत्ति है, वह सुपात्रता नहीं हो सकती[२]। गृहस्थ मात्र को एकान्ततः कुपात्र कहते हैं वे भी भूले जा रहे हैं। कहना होगा—उन्होंने आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण समझा नहीं। उन्होंने जयाचार्य की वाणी का मर्म नहीं छुआ। आचार्य भिक्षु ने और जयाचार्य ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की अपेक्षा गृहस्थ को सुपात्र और इनके अभाव की अपेक्षा उन्हें कुपात्र कहा है। इसका प्रमाण उन्हीं की रचनाएं दे रही हैं। टिप्पण पढ़ते जाइए,—विषय अपने आप स्पष्ट होता जाएगा।

पात्र-अपात्र या सुपात्र-कुपात्र की चर्चा भारतीय साहित्य में विपुल मात्रा में मिलती है। मोक्ष-दान के लिए संयमी के सिवाय और कोई सुपात्र नहीं माना जाता। आचार्य भिक्षु ने इसी तत्त्व को साफ-साफ और क्रान्त रूप में रखा। यह उनका प्रतिपाद्य विषय नहीं था कि गृहस्थों को एकान्त कुपात्र कहा जाए। उनके विचारों से मतभेद रखने वाले कुछ लोगों द्वारा ऐसा भ्रम फैलाया गया और व्यावहारिक बातें खड़ी कर लोगों को उलझाने की चेष्टाएं की गई किन्तु सही स्थिति वैसी है नहीं।

पात्र-कुपात्र-विचार

"सुपात्रायाप्यपात्राय, दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्याद्, निषिद्धं न कृपाधिया॥"

यह दिगम्बर पं० राजमल्ल का अभिमत है—पात्र और अपात्र दोनों को यथोचित दान देना चाहिए किन्तु अपात्र को पात्र-बुद्धि से दान देना निषिद्ध है। उसे कृपा-बुद्धि या अनुकम्पा-बुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है। तात्पर्य

१—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन सेवै, परिग्रह मेलै विविध प्रकारो रे।
तिण नै एकान्त सुपात्र परूपै, त्यां रा मत मांहे पूरो अंधारो रे॥
—व्रताव्रत चौपई ४।२३

२—एक कागादिक मारण रा त्याग किया, ते पिण श्रावक री पांत मांही रे।
बाकी सर्व किरतब खोटा करै छै, ते सुपात्र पणा में नांही रे॥
—व्रताव्रत चौपई ४।३१

यह होगा कि मोक्ष-दान के लिए जो अपात्र या कुपात्र है वह भी अनुकम्पा-दान के लिए पात्र है। मोक्ष-दान का पात्र संयमी होता है। अनुकम्पा-दान का पात्र होता है—दीन, दुःखी, भूखा, प्यासा, रोगी, म्लान।

आचार्य हरिभद्र के विचारानुसार :—

"सीलव्वयरहियाणं, दाणं जं दिज्जइ कुपत्ताणं।
तं खलु धोवइ वत्थं, रुदिरकयं लोहितेणेव[1] ॥

शील-व्रत-रहित व्यक्ति कुपात्र हैं। उन्हें दान देना वैसा है, जैसे लहू से भरे कपड़े को लहू से धोना।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :—

"सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरुण फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ, विमाण सोहासव्वस्स जाणेइ[2] ॥"

सत्पुरुषों को दान देना कल्पतरु की भांति फल देने वाला है—शोभा लाता है। लोभी को दान देना मृतक की रथी की शोभा जैसा है।

अमृत चन्द्र सूरि के विचार पढ़िए—

'हिंसायाः पर्यायो लोभः'......लोभ हिंसा का पर्याय है—दूसरा नाम है। लोभी जो है वह हिंसक है, इसीलिए पिण्ड निर्युक्ति (४५५) में लिखा है :—

"दाणं न होइ अफलं, पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंतं।
इय विभणिएविदोसा, पसंसओ किं पुण अपत्ते ॥

पात्र या अपात्र किसी को दो, दान अफल नहीं होता—ऐसा कहना भी दोष है तब भला अपात्र-दान की प्रशंसा करे उसका तो कहना ही क्या!

अपात्र-दान का फल पाप के सिवाय कुछ नहीं है। असंयमी को दान देकर जो पुण्य की इच्छा करता है, वह आग में बीज डालकर अनाज पैदा करना चाहता है—आचार्य अमितगति के ये विचार उनके शब्दों में यों हैं[3] :—

१—हारिभद्रीय अष्टक अध्याय २१

२—रयणसार २६

३—अमितगति-श्रावकाचार।

"अपात्रदानतः किञ्चित्, न फलं पापतः परम्।
लभ्यते हि फलं खेदो, बालुका-पिण्ड-पीडने ॥ २१।६०
वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यम् पास्तदूषणम् ॥"
॥१०।५४

आदि पुराण में लिखा है—अपात्र को दान देने वाला 'कुमानुषत्व' पाता है—नीच मनुष्य बनता है। लोहमय नौका जैसे पार नहीं पहुँचाती, वैसे ही दोषवान् व्यक्ति संसार के पार नहीं लगता।

जैसे :—

'कुमानुषत्वमाप्नोति, जन्तुर्ददपात्रके।' १४१
'नहिं लोहमयं यानपात्र-मुत्तारयेत् परम्।'
तथा कर्मभराभ्रान्तो, दोषवान् नैव तारकः ॥ १४४

महापुराण के दान सम्बन्धी विचार :—

"पात्रं रागादिभिर्दोषैः, अस्पृष्टो गुणवान् भवेत्।
तच्च त्रेधा जघन्यादि-भेदैर्भेदमुपेयिवत्। १३६
अघन्यं शीलवान् मिथ्या-दृष्टिश्च पुरुषो भवेत्।
सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं, निःशीलव्रतभावतः ॥ १४०
सद्दृष्टिः शीलसम्पन्नः, पात्रमुत्तममिष्यते।
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च, नैवपात्रमसौ मतः ॥ १४१
कुपानुषत्वमाप्नोति, जन्तुर्ददऽपात्रके।
अशोधितमिवालाबु, तद्धि दानं प्रदूषयेत् ॥ १४२
आमपात्रे यथा क्षिप्तं, मंक्षु क्षीरादि नश्यति।
अपात्रेऽपि तथा दत्तं, तद्धि स्वं तच्च नाशयेत् ॥ १४३
दोषवान् नैव तारकः ॥ १४५ ॥
ततः परमनिर्वाण-साधनरूपमुद्वहन्।
कायस्थित्यर्थमाहार-मिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥ १४६
न वाञ्छन् बलमायुर्वा, स्वादं वा देहपोषणम्।
केवलं प्राणधृत्यर्थं, सन्तुष्टो ग्रासमात्रया ॥ १४७

पात्रं भवेद् गुणैरेभिः, मुनिः स्वपरतारकः।
तस्मै दत्तं पुनात्यन्नं, अपुनर्जन्मकारणम्॥ १४८

—महापुराण पर्व २०

इस प्रकार पचासों ग्रन्थों में पात्र-कुपात्र या अपात्र का विचार मिलता है। किन्तु ध्यान रखिए—यह सब दान के प्रसंग में हुआ है। दान के लिए पात्र कौन और कुपात्र कौन, दूसरे शब्दों में दान का अधिकारी कौन और अनधिकारी कौन या दान के योग्य कौन और अयोग्य कौन—यह चर्चा गया है। यह विचार अध्यात्म-दर्शन या धर्म शास्त्रों के द्वारा हुआ है, इसलिए सांसारिक दान की दृष्टि से अनुकम्पा की परिस्थिति में सभी प्राणी दान के पात्र, आज की भाषा में सहयोग के अधिकारी माने गए हैं और मोक्ष-दान की दृष्टि से पात्र केवल संयमी माने गए हैं और असंयमी कुपात्र। तात्पर्य यह कि असंयमी व्यक्ति मोक्षार्थ दान लेने के अयोग्य हैं।

प्रायः सभी आचार्यों ने पात्र-कुपात्र का विवेचन करते हुए आध्यात्मिक गुणों को मापदण्ड माना है। वसुनन्दि-श्रावकाचार में लिखा है—"जो सम्यक्त्व, शील और व्रत रहित है, वह अपात्र है[1]।" "व्रत, नियम और संयम को धारण करने वाला साधु उत्तम पात्र होता है[2]।"

आदि पुराण में भी ऐसी ही व्यवस्था है—"पांच अणुव्रतों को पालने वाला, सम्यग् दृष्टि मध्यम पात्र है, साधु उत्तम पात्र है और कुदृष्टि और शील रहित व्यक्ति पात्र नहीं है[3]।"

एक दूसरी व्यवस्था और लीजिए—"संयमी उत्कृष्ट पात्र है, अणुव्रती मध्यम पात्र है, सम्यग् दृष्टि जघन्य पात्र है, सम्यग् दृष्टि नहीं किन्तु व्रती है,

---

१—सम्मतसीलवय विवज्जिओ, अप्पत्तं जो हवे णियमा।

२—वयणियमसंजमधरो, उत्तम पत्तं हवे साहू।

३—संतुष्टो यः स्वदारेषु, पञ्चाणुव्रतपालकः।
सम्यग्दृष्टिर्गुरौ भक्तः, सुपात्रं मध्यमं भवेत्॥
सद्दृष्टिशीलसम्पन्नं, पात्रमुत्तममिष्यते।
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च, नैव पात्रमसौ मतः॥

वह कुपात्र है और जो न सम्यग् दृष्टि है, न व्रती है वह अपात्र है।" मूल श्लोक पढ़िए—

"उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं,
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥"

अब आचार्य भिक्षु के विचार पर मनन करिए। वे कहते हैं—एकान्ततः सुपात्र संयमी है। श्रावक यानी अणुव्रती सुपात्र भी है और कुपात्र भी। जितनी सीमा तक व्रती है, उतनी सीमा तक सुपात्र है और अव्रत की सीमा में वह कुपात्र है। सम्यग् दृष्टि सुपात्र भी है और कुपात्र भी। सम्यग् दृष्टि ज्ञान, तपस्या आदि गुणों की अपेक्षा सुपात्र और दोष की अपेक्षा कुपात्र है। मिथ्या-दृष्टि और अव्रती कुपात्र है। यह व्यवस्था व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक है। आत्म-गुण या निरवद्य प्रवृत्ति की अपेक्षा व्यक्ति को सुपात्र और आत्म-विकार या सावद्य प्रवृत्ति की अपेक्षा उसे कुपात्र कहा जाता है। असंयमी का खान-पान निरवद्य नहीं है। इसलिए वह खान-पान की दृष्टि से संयमी नहीं है। इसे संयम की दृष्टि से परखिए। कोई उलझन नहीं होगी।

आचार्य भिक्षु के विचारानुसार कुपात्र का अर्थ है—असंयमी। असंयमी कुपात्र है और संयमी सुपात्र या यूं कहना चाहिए कि कुपात्र भाव का आधार असयम है और सुपात्र भाव का आधार संयम। वे असंयमी के लिए कुपात्र शब्द का प्रयोग करते हैं :—

"असंजती नैं जीवां बचावियां, वले असंजती नैं दियां दान।
कुपात्र जीवां नैं बचावियां, कुपात्र नैं दियां दान[1] ॥"

पहली गाथा में जिस अर्थ में असंजती-असंयमी शब्द का प्रयोग किया है उसी अर्थ में इसकी अगली गाथा में 'कुपात्र' शब्द का प्रयोग किया है।

पुरानी परम्परा

प्रश्न—प्यासे को पानी पिलाने से महान् उपकार होता है। पानी का

1—अनुकंपा चौपई १२।९—१०

मूल स्रोत है—कूप, तालाब आदि। इसलिए साधु इनकी खुदाई का उपदेश दे या नहीं?

उत्तर—साधु को ऐसा उपदेश देना ठीक नहीं और न इनका निषेध करना चाहिए। ये दोनों सदोष हैं, इसलिए निषिद्ध हैं। जैसा कि आचारांग प्रथम श्रुत-स्कंध छठे अध्ययन और पाँचवें उद्देशक में कहा है—"मुनि प्राणी भूत, जीव, सत्त्वों की घात न करे। स्वतः अनाशातक—हिंसा न करने वाला दूसरों से हिंसा न कराने वाला और हिंसा करते व्यक्ति का अनुमोदन न करने वाला मुनि जैसे प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को पीड़ा न उपजे, वैसा धर्म कहे।"

जो व्यक्ति लौकिक, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधु के दान की प्रशंसा करते हैं; कुए और तालाब बनाने का समर्थन करते हैं तो इनमें पृथ्वी कायिक आदि जीवों की हिंसा होती है और यदि इनका निषेध करते हैं तो दूसरों के अन्तराय होता है। वह भी बन्ध-विपाक का कारण है। जैसा कि कहा है—"जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं और जो उसका प्रतिषेध करते हैं वे वृत्तिच्छेद करते हैं।" इसलिए मुनि को उक्त दान तथा कूप, तालाब आदि का विधि-प्रतिषेध किए बिना शुद्ध दान की प्ररूपणा करनी चाहिए।

मुनि को कूप, तालाब आदि खुदाने का न उपदेश देना चाहिए और न निषेध करना चाहिए—इसका यह विचार है।

प्रश्न—साधु के सिवाय अन्य दर्शनी को श्रावक भक्त आदि का दान देते हैं, तब श्रावक को सम्यक्त्व में दोष लगता है या नहीं? उन्हें दिया जाए तो अन्य दर्शनी असाधु साधु के समान हो जाते हैं और अगर उन्हें न दिया जाए वह लोकविरुद्ध कार्य है और निर्दयता लगती है। इसलिए क्या करना चाहिए?

उत्तर—परमार्थ-दृष्टि में अन्य दर्शनी को धर्म बुद्धि से दान दिया जाए, तब सम्यक्त्व में दोष लगता है। अनुकम्पा बुद्धि से दे, उसे कौन रोकने वाला है। जैसे—"आवश्यक बृहद् वृत्ति के श्रावक सम्यक्त्वाधिकार में हरिभद्र सूरि ने कहा है—इसमें कौन-सा दोष है, जिससे मिथ्या दृष्टियों को अशनादि दान का प्रतिषेध है?" उनके भक्तों का मिथ्यात्व स्थिर होता है। उन्हें धर्म-

बुद्धि से दे तो सम्यक्त्व में दोष लगता है तथा आरम्भ आदि दोष बढ़ते हैं। करुणा के क्षेत्र में आपद्ग्रस्तों को अनुकम्पापूर्वक देना चाहिए भी—इसलिए कहा है—"दुर्जय राग, द्वेष, मोह को जीतने वाले तीर्थङ्करों में प्राणी की अनुकम्पा के लिए दिये जानेवाले दान का कहीं भी प्रतिषेध नहीं किया है।"

दीक्षा से पूर्व तीर्थंकर अनुकम्पा पूर्वक वार्षिक दान देते हैं। षडावश्यक की वृत्ति में 'सुहिएसु' इस गाथा की दूसरी व्याख्या में ऐसे दान को उचित दान के रूप में देय बतलाया है। अथवा सुखित यानी असंयती, दुःखित यानी पार्श्वस्थ—इन्हें रागद्वेष पूर्वक दान दिया हो, उसकी इस गाथा के द्वारा श्रावक निन्दा और गर्हा करता है न कि दीन आदि को जो अनुकम्पा-दान दिया जाता है उसकी। "कृपण, अनाथ, दरिद्र, कष्ट ग्रस्त, रोगी, शोक-हत व्यक्तियों को अनुकम्पा की बुद्धि से जो दिया जाता है वह अनुकम्पा दान है।" और कहा है—"यह जो पात्र और अपात्र की विचारणा है, वह मोक्षार्थ दान यानी मोक्ष-फल वाले दान के लिए है। जो दया दान है, उसका सर्वज्ञों ने कहीं भी निषेध नहीं किया है[1]।"

१—ननु तृषातुराणां पानीयपानात् तदुच्छेदनेन महान् उपकारो जायते, तन्मूलं च कूपतडागादि खननं, ततः साधुस्तत् खननोपदेशं दद्याद् न वा ? उच्यते नैतद् उपदेशदानं साधुजनानां युक्तं नापि तन्निषेधः, उभयथापि सिद्धान्ते सदोषत्वेन निषिद्धत्वात। यदुक्तं श्री आचाराङ्गसूत्रवृत्तौ प्रथमश्रुतस्कन्धे पञ्चमोद्देशके तथाहि अन्यान्यसूत्रे वा सामान्येन प्राणिनो, भूतान् जीवान् सत्त्वान् नो आशातयेत् बाधयेत् तदेवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकः परैरनाशातयत्, तथा परानाशातयतोऽननुमन्यमानोऽपरेषां बध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्त्वानां यथा पीड़ा नोत्पद्यते तथा धर्मं कथयेत्, तद् यथा—यदि लौकिक-कुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदानानि प्रशंसन्ति। अवटतटाकादीनि वा, ततः पृथ्वी-कायिकादयो वा व्यापादिता भवेयुः। अथ दुष्यति ततोऽपरेषां अन्तराया-पादनेन बन्धविपाकानुभवः। उक्तं च—

"जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणो।
जे नु णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते॥

तस्मात् तद्दानावटतटाकादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेत्।

दस प्रकार के दान

स्थानांग सूत्र में दान के दस प्रकार बतलाए हैं—

१—अनुकम्पा-दान—गरीब, दीन-दुःखी को देना।

२—संग्रह-दान—कष्ट-दशा में सहायता करने के लिए देना।

३—भय-दान—भयवश देना।

इति साधूनां कूपतटाकादि खनने उपदेशो न देयो, न निषेधनीय इति विचारः" ॥९८

......ननु-साधुव्यतिरिक्तान्यदर्शनीनां यदि श्रावका भक्तादिदानं प्रयच्छन्ति, तदा श्रावकाणां सम्यक्त्वे दोषो भवति न वा—यदि दानं तदा असाधूनां अन्यदर्शनिनां साधुसमानत्वापत्तिः, यदि अदानं तदा लोकविरुद्धता निर्दयता च ततो याथार्थ्यं उच्यताम्। उच्यते—शृणु—परमार्थतोऽन्यदर्शनिनां धर्म-बुद्ध्या दाने सम्यक्त्वलाञ्छनं भवति, अनुकम्पया तु दीयतां नाम को निवारको यदुक्तं—श्री हरिभद्रसूरिभिः श्री आवश्यकबृहद्वृत्तौ श्रावकसम्यक्त्वाधिकारे, तथाहि इह पुनः को दोषः स्याद् येनेत्थं तेषामशनादिदानप्रतिषेध इत्युच्यते तद् भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं धर्मबुद्ध्या ददतः सम्यक्त्वलाञ्छनम्? तथा आरम्भादिदोषाश्च करुणागोचरे पुनरापन्नानां अनुकम्पया दद्यादपि यदुक्तम्—

"सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजियरागमोहेहिं।
सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिं य पडिसिद्धं" ॥१

......तथा भगवन्तस्तीर्थङ्करा अपि त्रिभुवनैकनाथाः प्रविव्रजिषवः साम्वत्सरिकं अनुकम्पया प्रयच्छन्ति एव दानमित्यादि, एवं वृन्दारुवृन्दारकषडावश्यक वृत्तावपि 'सुहिएसु' इत्यादि गाथाया द्वितीयव्याख्याने एतद् दानं औचित्यदानत्वेन देय-तया प्रतिपादितम्, तथा हि यद् वा सुखितेषु असंयतेषु, दुःखितेषु पार्श्व-स्थादिषु शेषं तथैव, नवरं द्वेषेण—"दगपाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जमित्यादि"—तद्गतदोषदर्शनात् मत्सरेण अथवा असंयतेषु षड्विधजीववधेषु कुलिङ्गिषु रागेण एकग्रामोत्पत्त्यादिप्रीत्या, द्वेषेण जिनप्रवचनप्रत्यनीकादिदर्शनात्, भेदेन तद् एवं विधं दानं निन्दामि गर्हे च—यत् पुनरौचित्यदानं तद् न निन्दार्हम्, जिनैरपि वार्षिकं दानं ददद्भिः तस्य दर्शितत्वात् इति, पुनः प्रतिक्रमणवृत्तावपि, -तथाहि यद् वा सुखितेषु दुखितेषु वा असंयतेषु पार्श्वस्थादिषु शेषं तथैव परं

४—कारुणिक-दान—मृतक के पीछे देना।

(५) लज्जा-दान—लाज-शर्म वश देना।

(६) गौरव दान—कीर्ति के लिए देना।

(७) अधर्म-दान—वेश्या आदि को देना।

(८) धर्म-दान—संयमी व्यक्ति को देना।

(९) कृतमिति-दान—अमुक ने सहयोग किया था, इसलिए उसे देना।

(१०) करिष्यति-दान—यह आगे सहयोग देगा, इसलिए देना।

दान के ये दस प्रकार बताकर आगमकार ने सिर्फ वस्तु-स्थिति का निरूपण किया है। कौन-सा दान अच्छा या बुरा है—इसका विश्लेषण इसमें नहीं है। इनका मूल्यांकन समाज-शास्त्र की दृष्टि से किया जाए तो 'अधर्म-दान' बुरा है और शेष दान कभी अच्छे माने जाते रहे हैं और कभी बुरे भी।

द्वेषेण "दगपाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जमित्यादि"—तद्गतदोषदर्शनात् मत्सरेण अथवा असंयतेषु षड्विधजीववधेषु कुलिङ्गिषु रागेण एकदेशग्रामगोत्रोत्पत्त्यादि। प्रीत्या द्वेषेण जिनप्रवचनप्रत्यनीकतादिदर्शनोच्छेदेन, ननु प्रवचनप्रत्यनीकादेर्दानमेव कुतः, उच्यते—'तद्भक्तभूपत्यादि भयात्', तदेवंविधं दानं निन्दामि, गर्हे च यत्पुनरौचित्येन दीनादीनां तनुकम्पादानं यथा—

"कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनव्याप्ते च रोगशोकहते।
तद्दीयते कृपार्थं, अनुकम्पातो भवेद् दानम्" ॥

उक्तं च :—

"इयं मोक्षफले दाने, पात्राऽपात्र विचारणा।
दयादानं तु सर्वज्ञैः, कुत्रापि न निषिध्यते" ॥

तथा :—

"दानं यत्प्रथमोपकारिणि न तन्न्यासः स एवार्प्यते,
दीने याचनमूल्यमेव दयिते तत् किं न रागाश्रयात्।
पात्रे यत्फलविस्तरप्रियतया तद् वार्द्धुषीकं न किं
तद्दानं तदुपेत्यनिः स्पृहतया क्षीणे जने दीयते ॥
—समयसुन्दरोपाध्यायविरचित विशेष शतक।

समाज की धारणा स्वयं अस्थिर है, बदलती रहती है, तब इनका मूल्यांकन स्थिर कैसे होगा ?

अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से धर्म-दान उपयोगी है। शेष उसके लिए उपयोगी नहीं हैं। उपयोगी नहीं—इसका अर्थ यह नहीं है कि वेश्या-दान और कीर्ति-दान दोनों एक कोटि के हैं। तात्पर्य यह है कि आत्म-साधना से इनका कोई लगाव नहीं है।

इन दसों दानों को उपयोगिता की दृष्टि से बाँटें तो धर्म-दान आत्म-साधना के लिए उपयोगी है। शेष में से कुछ समाज के लिए उपयोगी हैं और कुछ उसके लिए भी अनुपयोगी हैं।

दान के स्वरूप में मिश्रण नहीं हो सकता। एक ही दान में सिद्धान्त की भाषा में पुण्य और पाप व व्यवहार की भाषा में सामाजिक उपयोगिता और आध्यात्मिक उपयोगिता—ये दोनों नहीं हो सकते।

धर्म-दान के तीन प्रकार हैं :—

(१) ज्ञान-दान। (२) अभय-दान। (३) संयमी दान ? ये तीनों आत्म-साधना के अंग हैं।

ज्ञान-दान

आत्म-साधना का सहायक ज्ञान देना, अहिंसक पद्धति से देना ज्ञान-दान है।

अभय-दान

मनसा-वाचा-कर्मणा छह काय के जीवों को मारने, मरवाने और मारने वाले को भला समझने का त्याग करना, प्राणी मात्र को भय नहीं उपजाना अभय-दान है[1]।

१—छ काय मारण रा त्याग ए, कोई पचखै आण वैराग ए।
अभय दान कह्यो जिणराय ए, धर्म दान में मिलियो आय ए॥

—व्रताव्रत चौपई ६।१९

त्रिविधे त्रिविधे छ काय जीवां नै, भय नहीं उपजावे तामो।
ए अभय दान कह्यो भगवंते, ए पिण दया रो नामो॥

—अनुकंपा चौपई ९।४

संयमी-दान

अतिथि यानी सर्वहिंसा-त्यागी, पचन-पाचन-निवृत्त, भिक्षा-जीवी मुनि को शुद्ध और निर्जीव जीवन-निर्वाह के साधन देना संयमी-दान (अतिथि-संविभाग) है।

दया और दान—ये दोनों अहिंसा से जुड़े हुए हैं। इन्हें बड़ी बारीकी से देखना होगा। पुराने मूल्यों को नए दृष्टिकोण से देखना होगा। एक युग में सामाजिक कर्तव्यों के पीछे पुण्य-पाप की प्रेरणा थी। इसलिए समाज के कर्तव्यों के साथ भी पुण्य-पाप का सम्बन्ध जुड़ गया। अब उस कल्पना में प्रेरकता नहीं रही है। वर्तमान का बुद्धिवादी मनुष्य सामाजिक कर्तव्य का मूल्यांकन उपयोगिता की दृष्टि से करता है।

दान की इतनी महिमा हुई, वह एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है। जैसा कि दादा धर्माधिकारी ने लिखा है—"हमारे यहाँ सब शास्त्रों में इस विषय में जो कहा है उसका आशय है—दरिद्रान् भर कौन्तेय ! (हे कौन्तेय ! दरिद्रों का भरण कर) ईसाई धर्म में कहा है—"अमीर को दान का मौका मिले, इसीलिए गरीबी का निर्माण किया है।" यह तो भगवान् पर वैषम्य और नैर्घृण्य का दोष लगाने जैसा है। दान को प्राचीन विद्वानों ने संग्रह का प्रायश्चित्त माना है। प्राचीन संस्कृति और धर्म इस मुकाम तक पहुँचकर ठिठक गए; क्योंकि वे सब विषमता पर आधारित थे। मार्क्स ही वह पहला व्यक्ति हुआ जिसने कहा—'गरीबी अमीरी भगवान् ने नहीं बनाई।' यह नैसर्गिक तो है किन्तु अपरिहार्य नहीं है। नियति या विधि-विधान नहीं है, यह परिहार्य है[१]।

दान कोई सहज तत्त्व नहीं है। स्वयं—भूत तत्त्व है—असंग्रह। मुमुक्षु व्यक्ति कुछ भी संग्रह न करे। मुमुक्षु-वृत्ति का जागरण हो। उसकी मर्यादा है—अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह न करे। संग्रह करते रहना और

१—नई क्रान्ति पृष्ठ २४

दान देते रहना—इसका कोई अर्थ नहीं होता। वास्तविक दान असंग्रह है। जैसा कि श्री मोहनलाल मेहता ने लिखा है—"सच्चा त्यागी वह है जो पैसा जोड़कर त्याग नहीं करता अपितु पैसा छोड़कर त्याग करता है। जोड़कर छोड़ने की अपेक्षा पहले से ही न जोड़ना सच्चा त्याग है—वास्तविक दान है। जिसकी आपको आवश्यकता ही नहीं, उसका संग्रह क्यों करते हैं? इसीलिए न कि आप इस संग्रह के दान से दानी कहलायेंगे। यह ठीक नहीं। इस प्रकार की आपकी मनोवृत्ति से समाज में विषमता फैलती है।"

"आप संग्रह का मूल्य समझते हैं, परिग्रह की कीमत आंक सकते हैं किन्तु आपकी दृष्टि में त्याग का मूल्य नहीं है, अपरिग्रह की कीमत नहीं के बराबर है। आप कहेंगे—जो धन का त्याग करता है, उसे दानवीर कहते तो हैं! और त्याग का मूल्य क्या होता है? आपका यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि आप वास्तव में परिग्रही को दानवीर कहते हैं, त्यागी को नहीं[1]।"

विनोबा के मतानुसार 'भूदान' आज का युग-धर्म है। यह होता है। समाज की समय-समय की आवश्यकता और उसी के अनुरूप मांग होती है। समय के प्रवर्तक उसे सामयिक धर्म के रूप में ही रखते हैं। किन्तु आगे चल-कर वह रूढ़ हो जाती है, एक शाश्वत धर्म का रूप ले लेती है और उसमें विकार आ घुसते हैं। दान का रूप भी कम विकृत नहीं हुआ है। इसलिए दान के पथ पर आज हमें फिर एक बार नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

१—श्रमण—जनवरी १९५३

नौवां अध्याय

२११-[illegible]०

* जीवन अविभाज्य और विभाज्य—दोनों है
* वृत्ति, व्यक्ति और वस्तु का सम्बन्ध
* असंयम और संयम की भेद-रेखा
* क्रिया का फल पहले-पीछे नहीं
* समाज और धर्म अलग क्यों ?
* समाज विरोधी संस्कार कैसे ?
* सत्य समझ का आग्रह
* आध्यात्मिकता का मापदण्ड : विरति
* अहिंसा-सूक्त

जीवन अविभाज्य और विभाज्य-दोनों हैं

(१) जीवन संकुल भी है और असंकुल भी।

जीवन अखण्ड या अविभाज्य है—स्याद्वाद की भाषा में यह नहीं कहा जा सकता। उसका प्रवाह एक हो सकता है किन्तु प्रवाह का बिन्दु एक ही नहीं होता। मैंने थोड़े समय पहले लिखे एक निबन्ध में लिखा था—"जीवन एकरस और धारावाही है। उसके टुकड़े नहीं किए जा सकते—यह सच है किन्तु स्थूल-सूक्ष्म-सत्य की दृष्टि से जीवन चैतन्य के धागे से पिरोई हुई भिन्न-भिन्न मोतियों की माला है। उसकी प्रत्येक और प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति उसे खण्ड खण्ड कर डालती है। देश और काल उसे जुड़ा नहीं रहने देते। स्थितियां उसकी अनुस्यूति को सहन नहीं करती। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का क्षेत्र भले एक हो, उनका स्वरूप एक नहीं हो सकता। एक व्यक्ति रोता भी है और हंसता भी है। रोने वाला और हंसने वाला व्यक्ति एक हो सकता है (वह भी स्थूल दृष्टि से) किन्तु रोना और हंसना एक नहीं हो सकता।" जीवन संकुल है— यह सच है किन्तु जीवन की प्रवृत्तियां जो भिन्न-भिन्न देश काल में होती हैं और भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हैं, वे संकुल नहीं होतीं। यह उससे कम सच नहीं है। इसलिए दोनों के समन्वय की भाषा में यूं कहना चाहिए कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के संगम की दृष्टि से जीवन संकुल है और उनके भिन्न-भिन्न स्वरूपों की दृष्टि से वह संकुल नहीं है।

जीवन की सीमाएं कृत्रिम नहीं होतीं। उसको बांटने वाली रेखाएं उसी के द्वारा खींची जाती हैं। उनमें से कुछ एक जो गम्य बनती हैं, वे शब्दों में बंध जाती हैं। उनके लौकिक और आध्यात्मिक जो भेद होते हैं, उनके पीछे दो दार्शनिक विचार हैं :—

(१) संसार

(२) मुक्ति

संसार का साधन (संसार की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति) लौकिक होती है और मुक्ति का साधन (मोक्ष की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति) आध्यात्मिक

संसार और मुक्ति की कल्पनाएं जिन्हें मान्य हैं, उन्हें संसार और मुक्ति के साधन भी मान्य होने चाहिए। संसार और मुक्ति का स्वरूप एक नहीं है, इसलिए लौकिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति का स्वरूप भी एक नहीं होना चाहिए। व्यक्ति की दृष्टि से लौकिक जीवन की समाप्ति के बाद आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है—ऐसा नहीं जान पड़ता। किन्तु प्रवृत्ति के स्वरूप की दृष्टि से ऐसा होता भी है। लौकिक जीवन की प्रवृत्ति समाप्त होने पर आध्यात्मिक प्रवृत्ति शुरू होती है और आध्यात्मिक प्रवृत्ति समाप्त होने पर लौकिक प्रवृत्ति। दोनों के आदि-अन्त अपने आप में समाए हुए हैं। दोनों का मिश्रण कहीं भी नहीं होता। साध्यों में मिश्रण नहीं होता, वे व्यावृत होते हैं तब साधनों की व्यावृत्ति कैसे नहीं होगी? हमें वस्तु की कोटि का निर्णय उसके स्वरूप-विवेक द्वारा करना होगा, उसके लिए व्यक्ति को तोड़ना आवश्यक नहीं होता।

(२) पुण्य धर्म का सहचारी है।

पुण्य धर्म से नहीं होता। पाप जैसे अधर्म से जुड़ा हुआ है, वैसे पुण्य धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है। जहाँ अधर्म, वहाँ पाप-बन्ध—जैसी व्याप्ति है। पुण्य की धर्म के साथ एकान्त-व्याप्ति नहीं है। धर्म के दो क्रम हैं—संवर और निर्जरा। संवर से कर्म मात्र का निरोध होता है। निर्जरा के साथ पुण्य का थोड़ा सा लगाव है। निर्जरा से पुण्य नहीं होता। वह निर्जरा का सहचारी है। निर्जरा होती है, वहाँ पुण्यबन्ध होता है, वह भी एकान्ततः नहीं। सर्व-निर्जरा (चतुर्दश-गुणस्थान की निर्जरा) के समय वह नहीं होता। वह देश निर्जरा के साथ आता है। पुण्य के साथ निर्जरा की व्याप्ति है, निर्जरा के साथ पुण्य की व्याप्ति नहीं है। जहाँ पुण्यबन्ध है, वहाँ निर्जरा अवश्य है। किन्तु जहाँ निर्जरा है वहाँ पुण्य-बन्ध है भी और नहीं भी। अधर्म के सहज रूप चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय। ये चारों पाप के हेतु हैं।

धर्म के सहज रूप पाँच हैं—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय तथा अयोग। ये पाँचो पाप और पुण्य दोनों के हेतु नहीं हैं।

जीव की एक दशा और बाकी है। वह है योग। विवाद स्थल यही है।

मन वाणी और शरीर के प्रयत्न मात्र की समष्टि संज्ञा योग है। योग अपने आप में शुभ-अशुभ कुछ भी नहीं है। चार आस्रवों से अनुगत होता है, तब वह अशुभ हो जाता है और सम्यक्त्व आदि से अनुगत होता है, तब शुभ[1] कर्म-शास्त्र की भाषा में मोह के उदय से प्रेरित हो प्रवर्तने वाला (औदयिक) वीर्य अशुभ और मोह के क्षयोपशम से प्रेरित हो प्रवर्तने वाला (क्षायोपशमिकादि) वीर्य शुभ।

शुभ योग से निर्जरा होती है। निर्जरा के समय होने वाला बन्ध पाप का नहीं होता। आत्मा की प्रवृत्ति, स्पन्दन या एजन नहीं है, वहाँ बन्ध अवश्य होता है। किन्तु पुण्य-पाप दोनों का बन्धन एक साथ नहीं होता, सहज रूप से बंधने वाले पाप के साथ-साथ पुण्य भी बंधता है, यह दूसरी बात है। चार आस्रव का पाप-बन्ध निरन्तर और सहज होता है। अशुभ योग से बन्धने वाला पाप निरन्तर नहीं होता, सहज भी नहीं। वह अशुभ प्रयत्न होने पर ही बन्धता है। पुण्य निरन्तर और सहज भाव से नहीं बन्धता। उसका बन्ध शुभ प्रयत्न से ही होता है। पुण्य वन्ध होता है, उस समय भी सहज भाव से पूर्ववर्ती चार आस्रव द्वारा पाप वन्ध होता रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पुण्य और पाप एक साथ भी होते हैं किन्तु प्रवृत्ति रूप में पुण्य-पाप का वन्ध एक साथ नहीं होता। कारण साफ है। प्रवृत्ति रूप पुण्य-पाप के हेतु शुभ-अशुभ योग हैं। वे दोनों एक साथ नहीं होते। योग शुभ या अशुभ होता है, मिश्र नहीं[2]। अध्यवसाय की दो ही राशि हैं—(१) शुभ (२) अशुभ। तीसरी राशि नहीं है[3]।

१—(क) सोय समत्तादि अणुगओ पसत्थो मिच्छत्थ अन्नाण अविरतिगओ अपसत्थो —आवश्यक चूर्णि।२

(ख) उजला ने मेला कया जोग, मोह कर्म संजोग विजोग।

—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय १।६६

२—सुभो वा सुभोवा सएण समयम्मि—विशेषआवश्यक भाष्य १।३५।

३—मनोवाक्कायद्रव्ययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपेऽनुभावकरणे भावरूपे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति।

क्रिया दो प्रकार की होती है—सम्यक् और असम्यक्। उसका मिश्र रूप नहीं होता। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :—

"भगवन्! अन्य तीर्थिक ऐसा कहते हैं, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करते हैं—एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है। वे दो क्रियाएं हैं—सम्यक् और मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया भी करता है। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया करता है और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है। सम्यक् क्रिया करने वाले के द्वारा मिथ्या क्रिया करता है। और मिथ्या क्रिया करनेवाले के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है। यह कैसे है भगवन्?"

भगवान् ने कहा :—

"गौतम! एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है, यह जो कहा जाता है वह सच नहीं है। मैं इस प्रकार कहता हूँ, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करता हूँ—एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है उस समय मिथ्या क्रिया नहीं करता और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है उस समय सम्यक् क्रिया नहीं करता। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया नहीं करता और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया नहीं करता[1]।"

इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या।

मन, वचन और काय का व्यायाम एक समय में एक ही प्रकार का होता

निश्चयनयदर्शनस्यैवात्रागमे विवक्षितत्वात् नहि शुभान्यशुभानिवाऽध्यवसाय-स्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदुपीष्यते येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः तस्माद् भावयोगः एकस्मिन् समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः

—विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति १।३६।

१—जीवाभिगम ३।२।१०४

है[1]। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम भी एक समय में एक ही होता है[2]।

कर्म-शास्त्र की दृष्टि से भी—एक समय में एक ही प्रकार का अध्यवसाय होता है—उदाहरण के लिए वेदनीय कर्म को लीजिए—उसकी दो प्रकृतियाँ हैं—(१) सात (२) असात—उसका बंध सात-असात, इन दो ही प्रकृतियों में रूप में होता है। सातासात जैसी मिश्र प्रकृति का बन्ध नहीं होता।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव सात वेदनीय कर्म करते हैं?"

भगवान्—"हाँ, गौतम! करते हैं।"

गौतम—"भगवन्! जीव असात वेदनीय कर्म करते हैं?"

भगवान्—"हाँ, गौतम! करते हैं[3]।"

कर्म-ग्रन्थ भी यही बताता है—वेदनीय की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है[4]।

सात और असात—ये दोनों अध्रुवबंधी और अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसलिए इनका एक साथ न बन्ध होता है और न उदय। इनकी वेदना भी एक साथ नहीं होती। यद्यपि वेदना को मिश्र बताया है[5]। किन्तु वह व्यावहारिक है। स्थूल काल की संकलना मात्र है, तात्त्विक नहीं। जैसा कि टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—"अत्रापितावन्तं विवक्षितकालमेकं विवक्षितत्वात् सातासातानुभवो युगपत् प्रतिपादितः परमार्थतस्त्वेकैव वेदितव्य इति।"

ऊपर के सभी प्रमाणों से यही जान पड़ता है कि आत्म-वीर्य (योग) मिश्र नहीं होता। वह मात्र पुण्यहेतुक या मात्र पापहेतुक होता है।

(३) सकषाय जीवन भी एक और अखण्ड नहीं होता।

१—स्थानांग। १

२—स्थानांग। १

३—भगवती ७।६।२८६

४—वेदनीयस्य पुनः सातासातरूपायैकैव प्रकृतिरेकदा बध्यते, न युगपदुभे अपि। सातासातयोः परस्परं विरोधात्। ५।८१

५—तिविहा वेयणा पं० तं० साता, असाता, सातासाता। —प्रज्ञापना ३५।३२८

वीतराग के पाप का बन्ध होता ही नहीं। उसके सिर्फ पुण्य का बन्ध होता है। अवीतराग या सकषाय व्यक्ति के पाप का बन्ध निरन्तर होता रहता है। इसीलिए पुण्य बन्ध के समय भी उसके केवल निर्जरा या केवल पुण्य-बन्ध होता है—ऐसी मान्यता नहीं है। आचार्य भिक्षु की मान्यता यह है कि कर्तव्य रूप दो कार्य (योग की प्रवृत्ति से बंधने वाले पुण्य-पाप) एक साथ नहीं हो सकते। पुण्य-बंध, जिस प्रवृत्ति का सहचारी है, उससे पाप नहीं बंधता और जिससे पाप-बन्ध होता है, उसके साथ पुण्य का बन्ध नहीं होता।

सकषाय जीवन एक ओर अखण्ड होता तो उसके जैसे पाप का बन्ध निरन्तर और बिना प्रयत्न के भी होता रहता है, वैसे पुण्य का बन्ध भी निरन्तर और सहज ही होता। किन्तु ऐसा नहीं होता[1]। इसलिए कहा जा सकता है कि सकषाय जीवन का प्रत्येक क्षण पुण्य-पाप-मिश्रित नहीं होता। पुण्य-बन्ध के समय मिथ्यात्व आदि की आन्तरिक मलिनता द्वारा सहज पाप बंधता है, इस दृष्टि से वे क्षण मिश्रित कहे जा सकते हैं किन्तु योगरूप प्रवृत्ति और उसके परिणाम स्वरूप बंधने वाले पुण्य-पाप के क्षण मिश्रित नहीं होते। सकषाय जीवन में शुभ योग होता है। उस समय कषाय विद्यमान रहता है पर शुभ योग तज्जनित नहीं होता। वह चारित्र मोह के विलय जनित होता है। योग कषाय से वासित होकर शुभ नहीं होता किन्तु कषाय के यावत् मात्र विलय से वासित होकर वह शुभ होता है। कर्म-शास्त्र की भाषा में मोह-कर्म का औदयिक भाव—योग शुभ नहीं होता। किन्तु मोह-कर्म का क्षायोपशमिक भाव योग शुभ होता है।

(५) पुण्य-पाप के हेतु को स्वतन्त्र मानने से गुण स्थान की व्यवस्था विशृंखल नहीं बनती।

गुण-स्थान मोह-विलय की क्रमिक दशाएं हैं। आस्रव और मोह का ज्यों-ज्यों विलय होता है, त्यों-त्यों आत्मिक गुणों का विकास होता चला जाता है। इनमें पहले तीन गुण स्थानों में निर्जरा, शुभ-अशुभ योग जनित पुण्य-पाप और मिथ्यात्वादि आस्रव जनित नैरन्तरिक पाप—ये सब होते हैं।

१—पात्रादि जीवानां तु न पुण्यबंधहेतुत्वं, तद्धेतोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति।

—भगवती वृत्ति ५।६

चौथे गुण-स्थान में मिथ्यात्व आस्रव नहीं होता। शेष सब होते हैं। छठे में अविरति नहीं होती। प्रमाद आदि शेष सब होते हैं। सातवाँ अप्रमादी है। यहाँ से अशुभ-योग-जनित पाप बन्ध रुक जाते हैं। दसवें गुण-स्थान तक सिर्फ नैरन्तरिक पाप-बन्ध होता है। ग्यारहवें से लेकर आगे वह सूक्ष्म अध्यवसाय-जनित नैरन्तरिक पाप भी नहीं होता। वहाँ तेरहवें तक सिर्फ पुण्य-बन्ध और निर्जरा होती है तथा चतुर्दश गुण-स्थान में सिर्फ निर्जरा होती है। इन चौदह गुण-स्थानों में यथोचित निर्जरा, पुण्य व पाप, इन तीनों के स्थान हैं। किन्तु एक प्रवृत्ति से पुण्य-पाप का कोई स्थान नहीं है। इसलिए पुण्य-पाप के निमित्तभूत योग को अमिश्र मानने पर कुछ भी बाधा आए—ऐसा नहीं लगता।

(६) हिंसा और अहिंसा का विवेक

गुण-स्थान के आधार पर हिंसा और अहिंसा का विवेक कर लेना अच्छा होगा, यह सही है—वास्तविक हिंसा आत्म दोष जनित होती है। व्यावहारिक और वास्तविक, दोनों कोटि की हिंसा की निवृत्ति अयोगीदशा (चतुर्दश गुण-स्थान) में होती है। वीतराग के शेष तीन गुण-स्थानों में व्यावहारिक यानी काय-योग-जनित हिंसा हो सकती है, वास्तविक नहीं। अवीतरागी गुण-स्थानों (सातवें से दशवें तक) में कषायांशजनित अन्तर्-परिणति रूप हिंसा होती है। छठे में प्रमाद-जनित अशुभ योग रूप हिंसा हो सकती है, अविरति-जनित हिंसा नहीं। शेष पाँचों में प्रमाद-जनित हिंसा कादाचित्क होती है और अविरति रूप हिंसा नैरन्तरिक। छठे गुण-स्थान वाले मुनि अविरति रूप हिंसा-निवृत्ति की दृष्टि से ही अहिंसक हैं। प्रमाद-जनित हिंसा की दृष्टि से वे कदाचित् हिंसक भी हो सकते हैं। भगवती सूत्र का एक प्रकरण देखिए :—

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव क्या आत्मारम्भ—आत्म-हिंसक हैं? या परारंभ—परहिंसक? या उभयारम्भ—उभयहिंसक? या अनारम्भ—अहिंसक?

भगवान्—गौतम! जीव आत्मारम्भ भी होते हैं, परारम्भ भी, उभयारम्भ भी, अनारम्भ भी।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान्—गौतम! जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध-सिद्ध अनारम्भ होते हैं। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—संयत और असंयत। संयत दो प्रकार के होते हैं—प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। अप्रमत्त-संयत अनारम्भ होते हैं। प्रमत्त-संयत शुभ योग की अपेक्षा अनारम्भ होते हैं और अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ। —तीनों होते हैं, अनारंभ नहीं होते। असंयत अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ होते हैं, अनारम्भ नहीं होते। साधु और गृहस्थ में इतना अन्तर है—गृहस्थ अविरति की अपेक्षा सदा सर्वदा हिंसक होता है, उस स्थिति में छठे गुण-स्थान का अधिकारी कदाचित् प्रमाद-काल में ही हिंसक होता है, शेष काल में नहीं।

(७) धर्माधर्म के निर्णय की कसौटी विरति है, वेश नहीं।

वेश या लिंग नितान्त व्यावहारिक है। वह धर्म-अधर्म, संयती-असंयती का निर्णायक नहीं होता। केवल वेश को देखकर दान देना या न देना—यह भी कोई बड़ा तत्त्व नहीं है। अमुक वेश वाले को दान दिया जाए, अमुक को नहीं, ऐसा विधान सम्भवतः कोई भी सम्प्रदाय नहीं करता। संयमी-दान मोक्ष-हेतुक है और असंयमी-दान संसार-हेतुक। संयमी-दान परिग्रह की विरति है, इसलिए वह मोक्ष का हेतु है। असंयमी-दान परिग्रह की विरति नहीं है, इसलिए वह संसार का हेतु है। यह वस्तु-स्थिति है। व्यवहार में संयमी-असंयमी दान का विवेक अपनी-अपनी मान्यता है। तत्त्ववेत्ता का कार्य उसका विश्लेषण करना है। व्यवहार चलाना उनका काम होता है जो व्यवहार में रहते हैं। आचार्य भिक्षु ने यह कभी नहीं कहा कि अमुक को मत दो, उन्होंने सिर्फ दान और दाता का विश्लेषण करते हुए बताया—

> "पात्र-कुपात्र हर कोई ने देवै, तिणने कहीजे दातार।
> पात्र-दान मुक्ति रो पावड़ियो, कुपात्र सूं रुले संसार॥"
>
> (व्रताव्रत १६-५०)

इसका सार यही है कि दाता पात्र यानी संयमी और अपात्र यानी असंयमी दोनों को देता है। उसमें जो संयमी-दान है, वह मोक्ष का मार्ग है

और असंयमी-दान संसार का। दाता दान के समय परीक्षा करने नहीं बैठता और न कहीं ऐसा देखने सुनने में भी आया है कि कोई भी व्यक्ति संयमी को ही दे, अन्य किसी को न दे। गृहस्थ-जीवन में विरति-अविरति दोनों होते हैं[1]। वह दोनों को एक रूप न समझ बैठे, यह विवेक ही बड़ी बात है। दान की कोटि का निर्णय न केवल दाता की भावना से होता है, न केवल ग्राहक की योग्यता से। उसकी कोटि का निर्णय दाता की भावना, ग्राहक की योग्यता और देय वस्तु की शुद्धि, इन तीनों पर निर्भर है। हमें देखना होगा, दाता की भावना परिग्रह-मुक्ति की है या उसके विनियोग की? ग्राहक परिग्रह-मुक्त है या परिग्रह-युक्त? अपरिग्रही अममत्व भाव से साधन मात्र लेता है। वह अपरिग्रही है, इसलिए अपरिग्रहात्मक दान आत्म-शुद्धि का साधन बनता है। परिग्रही ग्राहक देय वस्तु को ममत्व बुद्धि से लेता है, इसलिए उस दान में दाता परिग्रह का विनियोग कर देगा किन्तु उसकी (परिग्रह की) क्रिया से वह नहीं बचेगा। इस सूक्ष्म मीमांसा की भूमिका में पहुँचकर हमें कहना होगा कि वह दान वस्तुवृत्त्या आत्म-मुक्ति का मार्ग नहीं है।

दान की कोटि का निर्णय करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भविष्य के परिणामों से उसका तात्त्विक सम्बन्ध नहीं होता। ग्राहक आगे पुण्य या पाप, धर्म या अधर्म, जो कुछ करेगा, उस पर से दान का स्वरूप निश्चित नहीं होता। उसके स्वरूप-निश्चय में ग्राहक की वर्तमान अवस्था ही आधारभूत मानी जाती है।

(८) जैन दर्शन की समग्र दृष्टि और हिंसा अहिंसा।

विविध मान्यताओं के कारण धारणाएं संकुल बन जाती हैं—यह संस्कार प्रधान वृत्ति है। जैन दर्शन के विविध अंग गुण-स्थान, कर्म शास्त्र, क्रियावाद, साधना-विधान आदि-आदि सभी का सार एक है—"अहिंसा या विरति मुक्ति-मार्ग है और हिंसा या अविरति संसार-मार्ग। प्रत्याख्यान-मोह का

१—एगच्चाओ पाणाइ वायाओ पडिविरया जावजीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया··· तंजहा समणोवासगा भवन्ति—सूत्रकृतांग १८ तथा औपपातिक सू० २०

क्षयोपशम होने पर भी पाँचवें गुण-स्थान वाले व्यक्ति का जीवन देश-विरति होता है। वह कुछ विरत होता है, शेष अविरत रहता है। वह जो विरत-अविरत है यह तो स्थिति है[1]। इसका विवेक यह है, जितनी विरति उतना धर्म-पक्ष और जितनी अविरति उतना अधर्म-पक्ष, इसलिए देश-विरति को सुप्त-जागृत, धर्माधर्मी, बाल-पण्डित कहा जाता है[2]। ये (बाल, पण्डित आदि) जीवन के दो पक्ष हैं किन्तु मिश्रण नहीं। विरति-अविरति—दोनों एक जीवन में होते हैं किन्तु उनका स्वरूप एक नहीं होता। विरति की अपेक्षा व्यक्ति धर्मी और पण्डित होता है और अविरति की अपेक्षा अधर्मी और बाल। यह संकुलता आधार की है, अध्यवसाय या प्रवृत्ति की नहीं। मनुष्य हिंसक-अहिंसक दोनों होता है, इसे कौन अस्वीकार करता है? अस्वीकार इस बात का है कि हिंसा-अहिंसा का स्वरूप और उनकी कारण-सामग्री एक नहीं हो सकती। साधना में यानी साधना-काल में पाप और पुण्य दोनों हो सकते हैं किन्तु साधना में पुण्य और पाप दोनों नहीं होते। तात्पर्य की भाषा में साधना का अर्थ है—विरति। विरति से पाप; बन्ध नहीं होता। प्रकारान्तर से यूं कहा जा सकता है कि विरति होती है, उसी से पाप-बन्ध रुकता है; अविरति जो शेष रहती है, उससे पाप का बन्ध नहीं रुकता। इसकी चर्चा भगवान् महावीर की वाणी में इस प्रकार है :—

गौतम ने पूछा—

"भगवन्! बाल-पण्डित मनुष्य क्या नैरयिक का आयुष्य बाँधता है? यावत् देवता का?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! वह नैरयिक का आयुष्य नहीं बाँधता है। वह देवता का बाँधता है। गौतम—"इसका क्या कारण है भगवन्? भगवान्—"गौतम! बाल-पण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण-ब्राह्मण से आर्य-धर्म का वचन सुनकर कुछ एक हिंसा आदि से विरत होता है, कुछ एक से नहीं

१—(क) भगवती १६।६
(ख) भगवती १७।२

२—अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ,
विरयाविरइं पडुच्च बाल पंडिए आहिज्जइ। —सूत्रकृतांग २।२।३२

होता। कुछ एक हिंसा आदि का प्रत्याख्यान करता है, कुछ एक का नहीं करता। इसलिए वह देश-विरति होता है। वह कुछ एक हिंसा आदि का प्रत्याख्यान करता है, उसी देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नैरयिक का आयुष्य नहीं बाँधता, यावत् देव-आयुष्य बाँधता है[1]।"

अप्रत्याख्यान-मोह का क्षयोपशम होने पर सर्व-विरति होती है। यह साधु-जीवन है। यह हिंसा-अहिंसा-संकुल नहीं है। इसमें भी प्रमाद-जनित हिंसा हो सकती है। अविरति की हिंसा, जो पाँचवें गुण-स्थान तक सतत प्रवाहित रहती है और जीवन को निरन्तर हिंसासंकुल बनाए रखती है, वह इसके नहीं होती। इसीलिए संयमी या सविरति के जीवन-निर्वाह के साधन संयममय होते हैं। अविरति या देश-विरति के जीवन-निर्वाह के साधन उस कोटि में नहीं आते। समूचे प्रपंच का सार दो शब्दों में है—वस्तु-वृत्ति के स्वरूप-भेद और काल-भेद की अपेक्षा एक व्यक्ति का जीवन हिंसा-अहिंसा-संकुल हो सकता है किन्तु हिंसा-अहिंसा, अविरति-विरति, पाप-पुण्य की कारक शक्ति संकुल नहीं हो सकती।

बड़ी हिंसा को छोड़ छोटी हिंसा को करना—यह साधना का मार्ग नहीं है। साधना का अंश उतना ही है, जितना कि हिंसा का परित्याग है। शेष जो हिंसा है, वह साधना नहीं है। हिंसा का अल्पीकरण होते-होते साधना का क्रम आगे बढ़ता है। आवश्यकता का बन्धन शिथिल होते-होते एक दिन चरम या परम कोटि की साधना प्राप्त हो जाती है। फिर संसार शेष नहीं रहता। सूत्रकृतांग के वृत्तिकार ने इसे कथंचित् आर्य और पारम्पर्य रूप में सब दुःख के क्षय का मार्ग और एकान्त सम्यक्त्व बतलाया है।

वृत्ति, व्यक्ति और वस्तु का सम्बन्ध

(१) कर्म अपना किया हुआ होता है। परकृत या उभयकृत नहीं होता। कर्म का नाश भी अपना किया हुआ होता है, परकृत या उभयकृत नहीं होता।

(२) कर्म के दो रूप हैं—एक पुण्य दूसरा पाप और कर्म-विलय का रूप है—निर्जरा, जो धर्म है। पवित्र काय-चेष्टा, वाणी और अन्तःकरण से पुण्य

१—भगवती १।८

बंधता है और अपवित्र काय-चेष्टा, वाणी और अन्तःकरण से पाप। पुण्य-बन्ध का कारण उक्त तीन कारणों के अतिरिक्त और कोई नहीं है। पाप-बन्ध के कारण उक्त कारणों के सिवाय चार और है :—

१—मिथ्या-दर्शन।

२—अविरति।

३—प्रमाद।

४—कषाय।

(३) पुण्य-पाप की कारण-सामग्री विवाद-स्थल नहीं है। विवाद का विषय है—पवित्र-अपवित्र की चर्चा।

पवित्र-अपवित्र की मान्यता ऐकान्तिक नहीं हो सकती। वह सापेक्ष है। एक दृष्टि से जो वृत्ति पवित्र होती है, वह दूसरी दृष्टि से अपवित्र। इसलिए एक ही दृष्टि से किसी भी वृत्ति को पवित्र या अपवित्र नहीं कहा जा सकता। विवाह का संकल्प गृहस्थाश्रम की दृष्टि से पवित्र है किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की दृष्टि से वह पवित्र नहीं है। विवाह को अपवित्र कहना गृहस्थाश्रम के बंधे हुए संस्कारों में उभार लाता है और उसे समग्र-दृष्टि से पवित्र कहना ब्रह्मचर्य की निष्ठा को तोड़ने जैसा है। इसलिए ऐकान्तवादी विचार का समाधान उनकी अपनी-अपनी मर्यादा में ही ढूँढ़ना चाहिए। विवाह अपनी मर्यादा में अपने आश्रम की दृष्टि से पवित्र है—इतना ही बस हो। यह इससे आगे बढ़ा कि संघर्ष हुआ। मर्यादा-भेद या भूमिका-भेद को समझे बिना संघर्ष टलने का कोई रास्ता ही नहीं दीखता।

(४) वृत्ति का पहला रूप ज्ञान है। वह न पवित्र होता है और न अपवित्र। वह ज्ञानावरण का विलय-भाव है। उससे कर्म का बन्ध या विलय कुछ भी नहीं होता। वही ज्ञान संस्कारों से भावित होकर वृत्ति या भावना बनता है, तब उसके पवित्र और अपवित्र—ये दो रूप बन जाते हैं। इसलिए भावना या अन्तःकरण को पवित्र या अपवित्र कहने या मानने के पहले उसके पवित्र और अपवित्र होने के हेतु को ढूँढ़ निकालना चाहिए। हेतु की छान-बीन में अगर हमने एकान्त-दृष्टि का आश्रय लिया तो निर्णय सही नहीं

आयेगा। विचार के विषय की मर्यादा को सापेक्ष दृष्टि से ध्यान में रखकर ही उसे ढूंढ़ना चाहिए।

(५) दूसरा व्यक्ति और वस्तु किसी तीसरे की वृत्ति को अपवित्र या पवित्र नहीं बनाते, केवल निमित्त बन सकते हैं। अपवित्रता और पवित्रता अपने ही अर्जित संस्कारों के परिणाम हैं और उन्हीं से कर्म-बन्धन होता है। यह सब सोलह आना सही है। किन्तु किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ हमारी क्रिया या भावना का धागा जुड़ता है, वह किस रूप में और किस संस्कार से भावित होकर जुड़ता है—यह विचारार्ह है—कार्य का मूल्यांकन इसी पर से होगा।

(६) क—पवित्र भावना से पुत्र का मांस खाने वाला निर्दोष है—एक ऐसा अभिमत है।

(ख)—दुःख-मोचन के लिए छटपटाते प्राणी को करुणार्द्र होकर मार डालने की भावना भी पवित्र मानी जाती रही है।

(ग)—अनासक्त भाव से केवल प्रजा की उत्पत्ति के लिए अब्रह्मचर्य-सेवन भी बहुतों द्वारा पवित्र माना जाता है।

(घ)—आततायी को मारने में कोई दोष नहीं—यह मान्यता भी नई नहीं है।

इस प्रकार पवित्रता की विविध कल्पनाएं हैं। अपवित्रता के पीछे भी ऐसा ही कल्पनाओं का जाल गुंथा हुआ है। अगर हम वृत्ति को ही एकमात्र स्थान दें तो उसके वर्तन के आधारभूत वस्तु और व्यक्ति को भुला बैठें—यह घोर ऐकान्तिकता होगी।

(७) रोटी एक वस्तु है। वह परिग्रह नहीं है और न वह किसी का भला-बुरा करने वाली है किन्तु व्यक्ति की वृत्ति से जुड़कर वह भी परिग्रह बन जाती है। स्थूल दृष्टि से यही कहा जाएगा कि रोटी जीवन-निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा है। वह परिग्रह क्यों? उस पर भला क्या ममत्व होगा? किन्तु सूक्ष्म विचार की बात कुछ और ही होगी। रोटी खाने के स्थूल संस्कार जीवन-निर्वाह के भले हों, पर संस्कारों की शृङ्खला इतने में बस नहीं होती। रोटी रखने और खाने की पृष्ठभूमि में अविरति और असंयम के अनेक सूक्ष्म संस्कार छिपे हुए होते हैं। वे वृत्तियों को वस्तु-ग्रहण के लिए उत्तेजित किए रहते हैं।

इसीलिए अविरति की स्थिति में खान-पान और अविरतिमय आदान-प्रदान ममत्व के सूक्ष्म संस्कारों को पोषक ही रहते हैं, निवर्तक नहीं। सर्वविरति विधिपूर्वक भोजन कर सात-आठ कर्मों की निर्जरा करता है। अविरति का भोजन कर्म-बन्ध का हेतु है।

(८) एक परिग्रही का परिग्रह दूसरे परिग्रही के पास जाता है। जिसके पास परिग्रह है, उसका परिग्रह, जिसके पास नहीं है, उसके पास जाता है या जिसके पास अधिक परिग्रह है, वह कम वाले के पास जाता है। इससे सामाजिक आवश्यकता की आंशिक पूर्ति अवश्य हो जाती है दाता की वृत्ति अपरिग्रह की नहीं होती। परिग्रह का स्थानान्तरण अपरिग्रह नहीं होता। परिग्रह रखना जैसे धर्म नहीं, वैसे ही परिग्रह रखाना और रखने को अच्छा जानना भी धर्म नहीं है। जैन धर्म अविरति और विरति को तीन करण, तीन योग से मानता है। परिग्रह से अपना संयम है। परिग्रह करने की वृत्ति का त्याग है, वह धर्म है अथवा परिग्रही को अपनी वस्तु देकर (दान-काल के पश्चात्) परिग्रह की क्रिया से मुक्त होने की जो वृत्ति है, वह धर्म है।

(९) संयमी को ज्यों-त्यों देना ही धर्म है—यह मान्यता भ्रमकारी है, उसे शुद्ध आहार एषणापूर्वक शुद्धवृत्ति से दिया जाए, वही धर्म है, शेष नहीं। जैन आगमों की दृष्टि से धर्म दान का स्वरूप यह होगा :—

व्यक्ति संयमी वस्तु शुद्ध वृत्ति शुद्ध	} परिणाम—धर्म।
व्यक्ति संयमी। वस्तु अशुद्ध-आधा कर्म। वृत्ति अशुद्ध—नाग श्री जैसी।	} परिणाम—अधर्म।

वस्तु अशुद्ध होगी, वहाँ वृत्ति शुद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्य कि अशुद्ध वस्तु देने की वृत्ति शुद्ध नहीं होती।

साधु विद्यार्थी है। उसे पोषक खाद्य नहीं मिल रहा है···साधु के पढ़ने में खलल न हो, यह सोचकर कोई व्यक्ति पोषक भोजन बना उसे देता है और वह उस वृत्ति को पवित्र मानता है। विद्या को ही प्राधान्य देने वालों की

दृष्टि से वह अपवित्र नहीं भी है। किन्तु अहिंसा की दृष्टि से सोचने वाले उसे मोह कहेंगे। आधा-कर्म आहार साधु के लिए अग्राह्य है? इसलिए वैसा आहार देने का संकल्प पवित्र होगा या मोह—यह समझना कठिन नहीं है। अगर वृत्ति के साथ जुड़ी हुई वस्तु का कोई महत्त्व नहीं होता तो मुनि प्रासुक और ऐषणीय आहार ले, अप्रासुक और अनेषणीय न ले, गृहस्थ मुनि को प्रासुक ऐषणीय आहार दे, अप्रासुक अनेषणीय न दे—ऐसी व्यवस्था भगवान् महावीर क्यों करते? संयमी अशुद्ध और अनेषणीय आहार लेता है तो उसका लेना धर्म नहीं होता। गृहस्थ संयमी को अशुद्ध और अनेषणीय आहार देता है तो उसका देना भी धर्म नहीं होता। नागश्री ने धर्मघोष मुनि को अकल्प्य आहार दिया और हिंसापूर्ण वृत्ति से दिया, इसलिए वह दान धर्म नहीं हुआ। रेवती ने भगवान् महावीर की रोग-दशा से द्रवित होकर कुष्माण्ड पाक बना डाला। स्थूल-दृष्टि से इसमें उसकी कोई दुर्भावना नहीं जान पड़ती। भगवान् उसकी स्थूल वृत्ति के पीछे रहे हुए मोह को जानते थे, इसलिए उन्होंने वह नहीं लिया। भावना के शुद्ध या अशुद्ध होने का निर्णय स्थूल वृत्ति के आधार पर से नहीं किया जा सकता। उसके लिए सूक्ष्म संस्कारों की तहों में पहुंचना होता है।

(१०) मोक्ष की साधना के लिए पहाड़ से गिरकर मरने वाले की भावना क्या खराब है? उसका वैसा ही विश्वास है। और भी इस कोटि के बहुत सारे अकाम मरण हैं। बहुत सारे आदमी मोक्ष मिल जाए—इस भावना से अज्ञान-कष्ट, सहते हैं। आखिर सूक्ष्म संस्कारों को पकड़े बिना स्थूल विचार विचार के आधार पर शुद्ध या अशुद्ध भावना की कोई परिभाषा ही नहीं बनती।

(११) जैन आगमों के अनुसार कहा जा सकता है—अविरतिजनित संस्कार और उन संस्कारों द्वारा उत्पन्न होने वाली भावना या वृत्ति आत्म मुक्ति की दृष्टि से शुद्ध नहीं हो सकती।

(१२) सर्वविरति सुप्त (प्रमाद-दशापन्न) होते हैं, तभी उनके शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाँच जागृत होते हैं, यानी कर्म-बन्ध के कारण बनते हैं। वे जागृत होते हैं तब उनके ये पाँचों सोये हुए रहते हैं, यानी कर्म-बंध के

कारण नहीं बनते। असंयती मनुष्य के सुप्त और जागृत दोनों दशाओं में शब्दादि पाँचों जागृत रहते हैं—कर्म बन्ध के कारण बने रहते हैं।

यह अविरति और विरति की भेद-रेखा है। इससे समझ लेने पर तेरापंथ समूचा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

(१३) आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

"आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः, सर्वमन्यत् प्रपंचनम्॥"

वैसे ही आचार्य भिक्षु की भावना को इन शब्दों में रखा जा सकता है—

"अविरतिर्भवहेतुः स्यात्, विरतिर्मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः, सर्वमन्यत् प्रपंचनम्॥"

असंयमी व्यक्ति के जीवन-निर्वाह से असंयम के सूक्ष्म संस्कार जुड़े हुए होते हैं। इसलिए वह धर्म नहीं माना जाना चाहिए। धर्म नहीं, वहाँ पुण्य नहीं बंधता। योग की प्रवृत्ति धर्ममय होती है, उसी काल में योगजनित कर्म पुण्य-रूप बंधता है, शेष काल में नहीं। इसलिए असंयमी-जीवन बनाए रखने की वृत्ति—स्थूल वृत्ति भले ही करुणा की हो, धर्म या पुण्य का निमित्त नहीं बनती।

(१४) वस्तु और व्यक्ति के साथ जिस रूप में हमारी वृत्ति जुड़ती है, उसी रूप में उसके पीछे हमारे सूक्ष्म संस्कार सक्रिय रहते हैं। इसलिए प्रत्येक क्रिया के मूल्यांकन में वस्तु और वृत्ति के सम्बन्ध को भुलाया नहीं जा सकता। जो बात वस्तु के लिए है, वही व्यक्ति के लिए होगी। वस्तु देने की वृत्ति शुद्ध नहीं होती। वस्तु जैसे धर्म-अधर्म नहीं होती, वैसे व्यक्ति भी दूसरे के लिए धर्म-अधर्म नहीं होता। वस्तु के साथ जैसे धर्म अधर्म के रूप में वृत्ति जुड़ती है, वैसे ही व्यक्ति के साथ भी वह धर्म-अधर्म के रूप में जुड़ती है। वृत्ति सामने रहे व्यक्ति के अनुसार नहीं बनती, वह निजी संस्कारों के अनुसार बनती है। जिस व्यक्ति के प्रति मनुष्य के जैसे संस्कार होते हैं, उसके प्रति वैसे ही संस्कार, वैसी ही वृत्ति बन जाती है। अपना साथी और भिखमंगा दोनों एक ही बीमारी के शिकार हैं। साथी को देखकर समवेदना की वृत्ति बनेगी और

भिखमंगों को देखकर करुणा की। साथी के प्रति समानता के संस्कार बंधे हुए होते हैं और भिखमंगे के प्रति दीनता के। वृत्ति के साथ-साथ व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता तो अपने साथी और परिवार के प्रति होने वाली समवेदना धर्म या पुण्य नहीं मानी जाती और हीन-दीन के प्रति होने वाली करुणा-धर्म या पुण्य मानी जाती है, यह भेद क्यों? वृत्ति या व्यक्ति से कोई लगाव न हो तो एक मां अपने बेटे को रोटी खिलाए, वह धर्म-पुण्य नहीं और भिखमंगे को रोटी दे, वह धर्म-पुण्य—इस भेद का क्या कारण है? अगर कहा जाए, बेटे के प्रति ममता की वृत्ति है और भिखमंगे के प्रति करुणा की, ममता पाप है, करुणा धर्म, तो कहना होगा—बेटा भी भूखा है और भिखमंगा भी। स्थिति समान है, दोनों ओर भूखे हैं। फिर क्या कारण है कि एक के प्रति करुणा नहीं और दूसरे के प्रति है? समाधान यही आता है कि बेटे का रोटी में अधिकार है, भिखमंगे का उसमें अधिकार नहीं; तो इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकार वंचित व्यक्ति दीन होता है, दीन के प्रति करुणा की वृत्ति बनती है और वह धर्म पुण्य कमाने की साधना है। यह सारी कल्पना धार्मिक तो क्या, सामाजिक भी नहीं लगती। सामाजिक भाई के प्रति होने वाले हीनता के संस्कार और उनसे उत्पन्न होने वाली करुणा क्या असामाजिक तत्त्व नहीं है? समाज की दुर्व्यवस्था में ये संस्कार बने और आगे चलकर धर्म-कर्म के साथ जुड़ गए। आज हीन-दीन के प्रति करुणा लाकर धर्म-पुण्य कमाने की भावना चल रही है। खैर, तत्त्व इतना ही है कि व्यक्ति के साथ जुड़ने पर हमारी वृत्ति का स्वरूप वैसा ही बनता है, जैसा कि वह व्यक्ति है। वृत्ति से जुड़े हुए व्यक्ति को छोड़कर कोरी वृत्ति का मूल्य नहीं आंका जा सकता। अगर ऐसा होता तो चेतन-अचेतन, पशु-पक्षी सभी को पवित्र वृत्ति से नमस्कार करने में धर्म होता। विनयवाद का ऐसा अभिप्राय हो भी सकता है किन्तु व्यक्ति के गुणावगुण पर नमस्कार की अर्हता मानने वालों द्वारा ऐसा नहीं माना जाता। इसलिए वस्तु, व्यक्ति और वृत्ति के समन्वित रूप को छोड़कर किसी एक को ही शुद्धि-अशुद्धि के निर्णय का मानदण्ड नहीं बनाना चाहिए।

असंयम और संयम की भेदरेखा

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। व्यवहार में हम प्रवृत्ति और उसके परिणाम को अत्यन्त भिन्न मानते हैं पर निश्चय दृष्टि में बात ऐसी नहीं। दोनों साथ साथ चलते हैं, कर्म या प्रवृत्ति से आत्मा के बंध होता है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ और शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म बन्धता है। असंयममय प्रवृत्ति अशुभ और संयममय प्रवृत्ति शुभ होती है। अशुभ कर्म-बन्ध के दो कारण हैं—अशुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति का अत्याग। पहला योग रूप (प्रवृत्ति रूप) है, दूसरा अविरति रूप (अत्याग रूप) है। तात्पर्य यह कि अशुभ प्रवृत्ति करने से तो अशुभ कर्म बंधता ही है किन्तु स्थूल रूप में अशुभ प्रवृत्ति न करने पर भी 'अशुभ प्रवृत्ति का त्याग नहीं'—उस दशा में भी अशुभ कर्म बंधता है।

हिंसा करने वाला प्रवृत्ति रूप हिंसक कहलाता है। हिंसा की प्रवृत्ति न करने वाला किन्तु हिंसा का अत्यागी अविरत्ति रूप हिंसक कहलाता है[1]। आचारांग की वृत्ति में सूक्ष्म जीवों की हिंसा की चर्चा करते हुए बताया है—"सूक्ष्म जीवों का वध नहीं किया जाता, वे मारे नहीं मरते, फिर भी तब तक उनके प्रति हिंसक भाव बना रहता है, जब तक उनके वध की निवृत्ति नहीं होती—हिंसा का संकल्प नहीं टूटता[2]।"

प्रवृत्ति रूप में हिंसा निरन्तर नहीं होती। जब कोई हिंसा करता है तभी होती है। अविरति रूप में हिंसा निरन्तर होती है—तब तक होती है, जब तक हिंसा का त्याग नहीं होता; हिंसा का संकल्प, भाव या वृत्ति आत्मा से धुल नहीं जाती। यह तत्त्व आचार्य भिक्षु की वाणी में यूं है :—

"हिंसा री इवरत निरन्तर हुवै, हिंसा रा जोग निरन्तर नांहि।
हिंसा रा जोग तो हिंसा करै जदि, विचार देखो मन मांहि॥

साधु और गृहस्थ में बड़ा अन्तर यह होता है कि साधु के सर्वथा हिंसा की विरति होती है और गृहस्थ के सर्वथा विरति नहीं होती। साधु से प्रमाद-

---

१—भगवती १।१।, सूत्र २।२।२९

२—सूक्ष्माणां वधः परिणामाशुद्धत्वात्, तद् विषयनिवृत्त्यभावेन द्रष्टव्यः।
—आचारांग-वृत्ति १।१।२

वश कहीं हिंसा हो जाए तो वह योग रूप—प्रवृत्ति रूप हिंसा होगी, अविरति रूप नहीं[1]। गृहस्थ की हिंसा प्रवृत्ति-रूप होने के साथ-साथ अविरति-रूप भी होती है[2]।

संयमी सावद्य या अशुभ योग की प्रवृत्ति न करे तो उसके कोई हिंसा नहीं होती। वह सर्वथा अहिंसक रहता है। गृहस्थ शुभ योग की प्रवृत्ति करते हुए भी पूरा अहिंसक नहीं बनता और इसलिए नहीं बनता कि उसके अशुभ प्रवृत्ति की अनुमोदना-रूप अविरति निरन्तर सत्ता में रहती है[3]। इसका फलित यह होता है कि जो सर्वथा अविरति का त्यागी है, वह संयमी है; जिसने अविरति का कुछ त्याग किया है और कुछ अविरति शेष है वह संयमासंयमी है। जिसके अविरति बिल्कुल नहीं मिटी वह असंयमी है।

संयमी खाता है वह संयम है, लेता है वह संयम है, देता है वह संयम है। असंयमी का खाना, लेना और देना तीनों असंयम हैं। तात्पर्य यह है कि सर्व विरति से पहले शरीर-पोषण की प्रवृत्तियां अहिंसक नहीं होतीं।

असंयम का पोषण हिंसा का पोषण है। यह मोक्ष मार्ग नहीं हो सकता। मोक्ष-मार्ग संयम है। संयमी छह काय या जीव निकाय मात्र के प्रति संयत रहता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—"अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो—सर्व भूतों के प्रति जो संयम है, वह अहिंसा है[4]।" संयमी के लिए बताया है—'छसु संजओ' – संयमी छह काय के प्रति संयत रहता है या जो छह काय के प्रति संयत रहे, वही अहिंसक है।

१—तत्थणं जेते पमत्त संजया ते सुहं जोगं पडुच्च नोणं आयारंभा नो णं परारंभा, जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभावि जाव नो अणारम्भा।

—भगवती १।१।

२—असंजया अविरइं पडुच्च आयारंभावि जाव नो अणारंभा।—भगवती १।१।

३—अशुभ कार्य री अनुमोदना रूप अव्रत निरन्तर सत्ता में छै, जो शुभ योग में प्रवर्ते ते वेला पिण।—श्री मज्जयाचार्य कृत चर्चा रत्नमाला पत्र ६।

४—सव्वओ विरयाविरइ एस ठाणे आरम्भ णो आरंभ ठाणे।

—सूत्र कृतांग २।२।३९।

असंयम पोषण का अर्थ है—छह काय की हिंसा को प्रोत्साहन देना। यह वृत्ति छह काय के प्रति मैत्री, अहिंसा या दया कैसे हो सकती है?

क्रिया का फल पहले-पीछे नहीं

क्रिया शुभ हो या अशुभ, उसका फल तत्काल ही होता है—वर्तमान या क्रिया काल में होता है। वह क्रिया होने से पहले या पीछे नहीं होता। आचार्य भिक्षु की विचार-धारा को विकृत रूप देते हुए कुछ व्यक्ति कह देते हैं कि तेरापंथी मरते जीव को बचाने में इसलिए पाप मानते हैं कि वह जीवित रहकर जो पाप करता है उसका भागी बचाने वाला भी बनता है।

इसका निराकरण करते हुए आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—"हमारी ऐसी मान्यता नहीं है। हमारी श्रद्धा यह है—असंयमी मर रहा है। उसे कोई बचाता है। बचने वाला आगे चल हिंसा करेगा, उसकी अनुमोदना का पाप बचाने वाले को उसी समय लग जाता है। बाद में नहीं लगेगा।"

किन्तु जो यह मानते हैं कि धारणा, कराने से आगे होने वाली तपस्या का फल धारणा कराने वाले को मिलता है, उनके मतानुसार मरते असंयमी को कोई बचाए, वह आगे चल पाप करे उस पाप का भागीदार भी उसे होना चाहिए[1]। धारणा कराने वाला उसकी तपस्या का धर्म पा सकता है तो असंयमी को बचाने वाला उसकी हिंसा का पाप क्यों नहीं पाएगा? किन्तु ऐसा होता नहीं आगे तो पाप धर्म करेगा वैसा होगा पर अविरति पोषण करने वाले को वर्तमान में हुआ वही सही है[2]। आगे का उत्तरदायित्व मनुष्य कैसे उठा सकता है?

समाज और धर्म अलग क्यों?

अमुक कार्य समाज या संसार का है और अमुक कार्य धर्म या मोक्ष का

१—तपस्या कराने के निमित्त जो भोजन कराया जाता है।

२—आगे तो पाप धर्म करसी तिको हुसी, पिण अविरत पोषण वाला नैं उण वेला हुवो तिकोहि ज खरो।—३०६ हुण्डी पत्र ४

पाछै तो ओ करसी सो उण नैं होय,
पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय।

—बारह व्रत चौपई ७

ऐसा विभाग क्यों ? समाज और धर्म सर्वथा अलग नहीं हो सकते। इसलिए इन्हें अलग-अलग बांटने से बड़ी उलझन पैदा होती है—एक विचार-धारा ऐसी भी है।

इस उलझन को मिटाने का एक मात्र उपाय नास्तिवाद है। अनात्मवादी जीवन की वर्तमान कठिनाइयों से सबसे अधिक बच सकता है। उसे वर्तमान की उपयोगिता से आगे सोचने की जरूरत नहीं होती। आत्मवादी वर्तमान उपयोगिता को ही जीवन का साध्य नहीं मानता, इसलिए वह आत्म-शुद्धि को जीवन का चरमसाध्य मानकर चलता है। उसका साधन है—अहिंसा।

जीवन हिंसा के बिना चलता नहीं, गृहस्थ को आवश्यक सुविधाएँ जो जुटानी पड़ती हैं। इसलिए वह अनावश्यक हिंसा से बचकर चलता है। यही समाज अहिंसा या आध्यात्मिकता की नींव पर सृष्ट समाज कहलाता है। अहिंसक समाज का यह अर्थ नहीं कि वह कुछ भी हिंसा नहीं करता किन्तु वह हिंसा को यथाशक्य छोड़ने का ध्येय रखकर चलता है। उसमें जितना वीतराग-भाव या माध्यस्थ्य होता है, वह अहिंसा है और जितना राग द्वेष-मोह-अज्ञान है, वह हिंसा है। सामाजिक प्राणी अहिंसा का ध्येय रखते हुए भी दैहिक अनिवार्यता और राग-द्वेष की पराधीनता के कारण हिंसा से छुटकारा नहीं पाता, इसलिए वह अहिंसा और हिंसा के संगम में चलता है। वह हिंसा न छोड़ सके; यह उसकी दुर्बलता है। उसे अहिंसा क्यों माना जाए। प्रत्येक कार्य की परख होनी चाहिए। संसार को संसार और मोक्ष को मोक्ष समझना चाहिए। सांसारिक कार्य में अनासक्ति रहने मात्र से वह मोक्ष का नहीं बन जाता। हाँ, अनासक्ति के रहते बन्धन तीव्र नहीं होता, फिर भी सूक्ष्म राग के रहते सूक्ष्म बन्धन अवश्य होगा। बन्धन और मोक्ष का मार्ग एक हो नहीं सकता। इस दशा में उन्हें एक मानने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए।

समाज और मोक्ष की अलग-अलग धारणाएं रहते हुए समाज का यथेष्ट विकास नहीं हो सकता—ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है। कारण यह है—सामाजिक प्राणी हिंसा और अहिंसा का विवेक रख सकता है किन्तु हिंसा को सर्वथा छोड़ नहीं सकता; समाज की प्रतिष्ठा, मर्यादा और विकास की उपेक्षा नहीं

कर सकता। इतिहास के पन्ने उलटिए। अहिंसा पर विश्वास रखने वाले मौर्य और गुप्त सम्राटों का काल भारत का स्वर्ण-युग कहा जाता है।

समाज विरोधी संस्कार कैसे?

दया-दान-विषयक विचार क्रान्ति दया-दान के अतिरंजित रूप का परिणाम है। सामाजिक प्राणी राग की परिणति से मुक्ति नहीं पा सकता, यह ठीक है किन्तु उसे धर्म या मोक्ष का मार्ग समझ बैठे, यह भूल है। ऐसी भूल हुई, इसीलिए आचार्य भिक्षु को उस पर कठोर प्रहार करना पड़ा।

वे समाज की मर्यादा को समझते थे। समाज में रहने वाला व्यक्ति समाज से विमुख बनकर रहे, यह उन्होंने नहीं बताया। उन्होंने बताया—समाज की आवश्यकताओं को, आपसी सहयोग, न्याय-वितरण, समान अधिकार, पौद्गलिक सुख-सम्पादन की विधियों को मोक्ष-मार्ग समझना भूल है। वे समाजविरोधी संस्कार डालने नहीं चले, समाज का अभ्युदय निश्रेयस् के नाम पर साधा-जा रहा था, उसे मिटाने चले थे। उसमें वे सफल हुए। आज का युग उनकी देन को बड़ी महत्त्वपूर्ण मानता है।

सामाजिक दायित्व निभाने वाले नरक में जाते हैं—यह उनका प्रतिपाद्य नहीं था। उनका प्रतिपाद्य सिर्फ इतना ही था कि यह सब मोक्ष की साधना नहीं है। सम्यग् दृष्टि व्यक्ति सामाजिक दायित्व को निभाता हुआ भी नरक गामी नहीं होता। नन्दन मणियारा ने पुष्करणी बनवाई, इसलिए वह मेंढ़क बना—यह कैसे कहा जा सकता है? छह खण्ड का राज्य करने वाले सार्वभौम चक्रवर्ती और रण-चण्डी का खप्पर भरने वाले राजा और सैनिक उसी जन्म में संयमी बन मोक्ष जाते हैं। इस दशा में कुआं या पोखरणी बनाने मात्र से कोई नरक जाता है—यह कौन मर्मज्ञ कहेगा? नन्दन मेंडक, इसलिए बना कि वह आरम्भ करता गया, उसमें मूर्च्छित रहा और आत्म-धर्म से मुंह मोड़ बैठा। आत्म-धर्म के सिवाय अगर कोई दूसरी वस्तु सद्गति का कारण होती तो नन्दन की ऐसी स्थिति नहीं बनती। बहुत सारे व्यक्ति लौकिक व्यवहार को ही धर्म-पुण्य मानकर आत्म-धर्म से परे खिसक जाते हैं, यह बड़ी भूल होती है। लौकिक व्यवहार गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। आरम्भ करना गृहस्थ की कमजोरी है किन्तु उसे धर्म समझना मोह की प्रबलता है। गृहस्थ को अनर्थ-

हिंसा से अवश्य बचना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ या सामाजिक स्वार्थ के लिए होने वाली हिंसा, जिसे भगवान् महावीर ने अनर्थ-हिंसा कहा है, से व्यक्ति विवेक पूर्वक बचे—यह तथ्य है। भव वैराग्य होगा तो वह हिंसा को छोड़ता चला जाएगा। आखिर साधु या संन्यासी भी बन जाएगा। वास्तव में सही विरक्ति होनी चाहिए। वैयक्तिक स्वार्थ का भरपूर पोषण करने वाले सामाजिक स्वार्थ से बचने के लिए दम्भ भरें—यह सही नहीं लगता। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—"गाय से दूध लूंगा किन्तु उसे घास नहीं डालूंगा—ऐसी अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति अहिंसा नहीं किन्तु अहिंसा के साथ मखौल है।"

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने यत् किंचित् कटु सत्य कहा है, वह भी लौकिक व्यवहार को तोड़ने के लिए नहीं किन्तु वस्तु स्थिति को यथार्थ रूप में समझाने के लिए, दृष्टि को सम्यक् बनाने के लिए वैसा कहना पड़ा[1]। लोगों ने प्रत्येक आवश्यक कर्तव्य पर धर्म की छाप लगा दी। उन्होंने मान लिया कि पानी पिलाना धर्म है, रोटी खिलाना धर्म है, पैसा देना धर्म है। धर्म भी व्यवहार का नहीं मोक्ष का। यों क्या धर्म बाहर से टपक पड़ता है? धर्म का रूप विकृत बना दिया गया। कष्ट कौन सहे? त्याग तपस्या कौन करे? ब्राह्मणों को भोज करा दिया, जैनों ने दया पला दी—श्रावकों को जिमा दिया, धारणा-पारणा करा दिया। वे धर्म करेंगे उसका हिस्सा, उसकी प्रेरणा या अनुमोदना उन्हें मिल जाएगी—ऐसी भ्रान्त धारणाएं चल पड़ीं। धर्म की मौलिक साधना—सत्य, सन्तोष, मैत्री, अपरिग्रह—दब गई और बाहरी आवरण उभर आया। ऐसी स्थिति में कटु सत्य भी उपयोगी होता है। वह समाज-विरोधी संस्कारों को नहीं डालता किन्तु धर्म के नाम पर पलने वाले विकारी संस्कारों और आडम्बरों को उखाड़ फेंकता है। आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त को पढ़ते समय उनके पारिपार्श्विक वातावरण को ध्यान में रखना जरूरी है। उसको छोड़कर हम उनका दृष्टि-बिन्दु समझने में पूर्ण सफल नहीं हो सकते।

१—उपदेश में आगला नें समझावबा, सम्यग् दृष्टि पमावबा, छै जिसा फल बतायां दोष नहीं।

—भ्रमविध्वंसन दानाधिकार बोल १२

सत्य समझ का आग्रह

आचार्य भिक्षु लौकिक व्यवहार को तोड़ने का आग्रह नहीं रखते थे। उन्हें वस्तु-स्थिति को यथार्थ समझने का आग्रह था। एक जमाना ऐसा रहा जबकि सामाजिक दायित्व को निभाने के लिए समाज के नियमों को धर्म-पुण्य कहा गया? आज का मनुष्य कर्तव्य के नाम पर आगे बढ़ गया है। वह समाज के दायित्व को सामाजिक कर्तव्य के रूप में अधिक कौशल के साथ निभाता है। अथवा यूं समझिए कि आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण एक नया प्रयोग है। उनके अनुयायी सामाजिक आवश्यकताओं को धर्म पुण्य न मानते हुए भी कर्तव्य की दृष्टि से उन्हें पूरा करते हैं। सांसारिक स्थितियां आत्मा को मुक्ति देने वाली नहीं हैं, फिर भी बन्धन में फंसे हुए व्यक्ति अपनी मर्यादा नहीं तोड़ सकते। इसलिए वे कर्तव्य प्रेरित होकर उन्हें किया करते हैं। वर्तमान युग सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति धर्म-पुण्य के नाम पर नहीं किन्तु सामाजिक न्याय और अधिकार के स्तर पर करना सिखाता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो हीनता और उच्चता की भावना बनी, उसमें दान-द्वारा पुण्य कमाने की धारणा प्रमुख है। भगवान् महावीर ने इसके विरुद्ध क्रान्ति की। सूत्र कृतांग और आचारांग पढ़ जाइए, तथ्य सामने आ जाएंगे। आचार्य भिक्षु ने उसी तथ्य का पुन; प्रकाशन किया। लोग उसका मर्म नहीं समझ सके। उनके संस्कार वैयक्तिक जीवनवादी व्यवस्था के थे। इसलिए वे विचार सहजतया समझ में न आएं—इसमें आश्चर्य जैसा कुछ नहीं। सामाजिक साथियों को हीन-दीन रखकर उनके प्रति दया और परोपकार का व्यवहार करना—ये सब वैयक्तिक जीवनवादी व्यवस्था के परिणाम हैं। इस युग में जहाँ समानाधिकार का स्वर सफल हो रहा है, उनका निर्वाह करने की आवश्यकता नहीं रही। समाजवादी जीवन-व्यवस्था में सबके साथ समानता की अनुभूति की जाती है। यह आमूल परिवर्तन है। एक हीन-दीन रहे और दूसरा उस पर दया कर धर्म-पुण्य कमाए—इसका कोई महत्त्व नहीं रहा। आज उसे महत्व दिया जाता है, जिसमें कोई हीन-दीन रहे ही नहीं।

सामाजिक व्यक्तियों की हीनता से उत्पन्न करुणा सचमुच समाज की दुर्व्यवस्था को चुनौती होती है। उसे धार्मिक रूप देने वाले प्रकारान्तर से

दुर्व्यवस्था को प्रश्रय देते हैं। किसी युग में यह भावुकता उपयोगी रही होगी किन्तु इस अधिकार-जागरण के युग में तो इसका कोई उपयोग नहीं दीख पड़ता। युग की परिवर्तित चेतना को समझने के लिए प्रोफेसर नवेन्द्रनाथ के विचार देखिए—"एक समय था जब सामाजिक कल्याण और परोपकार की भावना से प्रेरित होकर कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अन्धों को सहायता और सुख पहुँचाने के लिए उन्हें कुछ सिखाना पढ़ाना शुरू किया था। समाज का बोझ हलका करने के लिए उन्होंने अन्धों के लिए विद्यालय और आश्रम भी खोलने पर लोक-चेतना के विकास और व्यापक जन-जागृति के कारण आज हर अन्धे बच्चे का शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार माना जाने लगा है। अधिकांश सभ्य देशों में आज अन्धों की शिक्षा अनिवार्य है और सरकार तथा जनता शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें उपयुक्त कार्य और सामाजिक अवसर देने की भरपूर चेष्टा कर रहे हैं[1]।"

"अधिकांश अन्धों को दयालु, धर्मालु व्यक्तियों के दान पर ही निर्भर करना पड़ता था; इस दृष्टि से समाज में उनका स्थान बड़े सम्मान का था; ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मों में दान की बड़ी महिमा वर्णित हुई है और इसीलिए सुगमता से भिक्षा-वृत्ति ही अन्धों का एक प्रमुख पेशा बन गया[2]।"

आध्यात्मिकता का मापदण्ड : विरति

किसी भी कार्य के दो पहलू होते हैं—लक्ष्य और परिणाम। पहले लक्ष्य बनता है फिर कार्य और फिर परिणाम। लक्ष्य अतीत हो जाता है, कार्य वर्तमान रहता है और परिणाम भविष्य पर निर्भर होता है। लक्ष्य, कार्य और परिणाम – तीनों एक कोटिक होते हैं तब वह कार्य सर्वांगपूर्ण होता है। लक्ष्य या कार्य में भेद होता है अथवा कार्य या परिणाम में भेद होता है अथवा लक्ष्य, कार्य और परिणाम तीनों में भेद होता है, तब वे एकांगी बन जाते हैं।

किसी भी वस्तु का मापदण्ड निश्चित करने की दो दृष्टियाँ होती हैं :—

१—नया समाज पृष्ठ १८२-१८३ सितम्बर १९५३

२—नया समाज पृष्ठ १८२-१८३ सितम्बर १९५३

(१) व्यवहार

(२) निश्चय

व्यवहार-दृष्टि स्थूल होती है, इसलिए उसके अनुसार हेतु, कार्य और परिणाम तीनों भिन्न हो सकते हैं। निश्चय-दृष्टि में ऐसी बात नहीं है। वह सूक्ष्म और तत्त्व-स्पर्शी है। इसलिए उसके अनुसार कार्य और उसका परिणाम—ये भिन्न कोटिक नहीं हो सकते। परिणाम कार्य का अवश्यम्भावी फल है। वह कभी भी और किसी भी स्थिति में क्रिया के प्रतिकूल नहीं होता। क्रिया अच्छी और परिणाम बुरा, क्रिया बुरी और परिणाम अच्छा—यह जो दिखाई देता है, वह प्रासंगिक परिणाम के कारण होता है। क्रिया के मौलिक फल की क्रिया के साथ ऐकान्तिक और आत्यन्तिक एकरूपता होनी है—अच्छी क्रिया का फल अच्छा होता है और बुरी क्रिया का बुरा! निश्चय-दृष्टि के परिणाम क्रिया की अच्छाई और बुराई के मापदण्ड बन सकते हैं—जिसका परिणाम अच्छा होता है वह क्रिया अच्छी और जिसका परिणाम बुरा होता है वह क्रिया बुरी। ये (निश्चय-दृष्टि के परिणाम) अधिकांशतया नियमगम्य या सैद्धान्तिक होते हैं।

अहिंसा का वास्तविक परिणाम आत्म-शुद्धि है, यह एक नियम या सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति जान सके या नहीं किन्तु जहाँ अहिंसा होती है, वहाँ आत्म-शुद्धि अवश्य होती है—इसलिए वह क्रिया की व्यावहारिक कसौटी नहीं बन सकती। व्यवहार दृष्टि के परिणाम तथा निश्चय-दृष्टि के प्रासंगिक परिणाम यद्यपि स्पष्ट होते हैं, उन्हें जानने के लिए नियम-निर्धारण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु क्रिया के स्वरूप के साथ उनकी एकरूपता नहीं होती, इसलिए उनमें क्रिया की और कोटि का निर्धारण करने की क्षमता नहीं होती।

क्रिया हेतु के अनुकूल भी हो सकती है और प्रतिकूल भी। हेतु और क्रिया की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक एकरूपता नहीं होती। इसलिए वह भी कार्य की कसौटी नहीं बन सकता।

'काण्ट' ने नैतिकता का मापदण्ड निश्चित करते समय निश्चय और व्यवहार-दृष्टि का उपयोग करते हुए लिखा है—"प्रत्येक भला हेतु भला ही

आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है। उसका बाह्य परिणाम भला या बुरा हो सकता है[1]।

नैतिकता के मापदण्ड के बारे में पश्चिमी दार्शनिकों के दो मतवाद हैं—

(१) हेतुवाद

(२) परिणामवाद

हेतुवाद के अनुसार "काम की भलाई या बुराई को देखने के लिए हमको उसके परिणाम को न देखकर उसके हेतु को देखना चाहिए। हेतु की शुद्धता पर कार्य की पवित्रता निर्भर करती है। जिस कार्य का हेतु पवित्र है, उसका फल चाहे जो कुछ हो, वह पवित्र ही कार्य है[2]।"

'काण्ट' के इस हेतुवाद का प्रतिपक्ष 'बेन्थम' और 'जान स्टुअर्ट मिल' का परिणामवाद है। उसके अनुसार सभी कार्यों के हेतु एक से ही होते हैं। अतएव हेतु की दृष्टि से न किसी काम को भला और बुरा कहा जा सकता है। चोर चोरी अपने सुख के लिए करता है, इसी प्रकार दानी पुरुष भी दान सुख-प्राप्ति के निमित्त करता है[3]। अतएव यदि हेतु पर विचार किया जाए तो न चोर का काम बुरा है और न दानी का भला। दोनों के काम एक ही हेतु से होने के कारण एक से ही हैं।

परिणामवादी नैतिक आचरण की कसौटी परिणाम को मानते हैं। सुखवाद इसीका आभारी है। बेन्थम के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है। वह उसे भला समझता है अतएव भलाई का काम वह है, जिसके द्वारा अधिक सुख मिले और बुरा काम वह है, जिसके परिणामस्वरूप अधिक कष्ट मिले। सम्भवतः ऐसा कोई भी काम न होगा, जिससे कुछ सुख और दुःख दोनों ही उत्पन्न न हों। पर हमें अपेक्षाकृत सुख और दुःख को देखना है। जिस काम में सुख अधिक और दुःख कम हो, वही अच्छा है[4]।

यही बात 'जान स्टुअर्ट मिल' कहते हैं—"प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है

१—नीतिशास्त्र पृष्ठ १६५

२—नीतिशास्त्र पृष्ठ १६६

३—Principal of moral legislation. —Chapter IV

४— ,, ,, ,,

अतएव सुख चाहने योग्य वस्तु है। इसलिए सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिए[1]।"

आचार्य भिक्षु के विचारानुसार हेतु और कार्य में सार्वदिक और सार्वत्रिक एकरूपता नहीं होती। कार्य का परिणाम जो अनन्तर या निश्चय-दृष्टिपरक होता है, वह स्पष्ट जान नहीं पड़ता। और जो प्रासंगिक परिणाम जान पड़ते हैं, वे कार्य के साथ निश्चित सम्बन्ध नहीं रखते—व्याप्त नहीं होते। इसलिए हेतु और परिणाम, ये दोनों उसकी कसौटी नहीं बनते।

कार्य की कसौटी उसके स्वरूप का विवेक ही है। कार्य जैसे सहेतुक होता है, वैसे निर्हेतुक भी होता है। हेतु यदि कार्य की कोटि का निर्णायक हो तो सहज भाव से होने वाले कार्य की कोटि का निर्णायक फिर कौन होगा? इसलिए कार्य के स्वरूप का विवेक ही उसकी कोटि का निर्णायक हो सकता है। कार्य अमुक कोटि का है—आध्यात्मिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक या असामाजिक है—ऐसा निर्णय होने पर उसकी अच्छाई-बुराई, उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय सापेक्ष होता है। सभी दृष्टियों से या अपेक्षाओं से कोई भी कार्य अच्छा या बुरा नहीं होता।

किसी भी कार्य को अच्छा या बुरा कहने के पीछे एक विशेष दृष्टि या अपेक्षा होती है। चोर अपने सुख के लिए चोरी करता है। उस द्वारा कल्पित सुख की दृष्टि से चोरी बुरी नहीं है चोरी बुरी है, आदर्श की दृष्टि से? सुख की चाह प्राणी की मनोवृत्ति है। वह आदर्श का मान-दण्ड नहीं है। "केवल वस्तु-स्थिति के आधार पर आदर्श का निश्चय नहीं किया जा सकता। जहाँ पर आदर्श का निश्चय होता है, वहाँ पर मनुष्य को वस्तु-स्थिति के स्तर से ऊँचा उठना पड़ता है। अतएव केवल मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के नैतिक आचरण का माप-दण्ड निश्चित करना अनुचित है। कर्तव्य-शास्त्र में प्रधान बात यह नहीं है कि मनुष्य क्या करना चाहता है, वरन् प्रधान बात यह है कि उसे क्या करना चाहिए। मनुष्य में सुख की चाह

१—*Principal of moral lagislation.*

—Chapter IV

अवश्य है परन्तु उसमें इस चाह को नियन्त्रित करने की योग्यता भी है। वह अपने विवेक के द्वारा सुख की चाह को नियन्त्रित कर सकता है[1]।"

जिस कार्य का हेतु पवित्र होता है, वह कार्य पवित्र ही है—यह एकांगी हेतुवाद भी निर्दोष नहीं है। हेतु की पवित्रता मात्र से कार्य पवित्र नहीं बनता। कार्य हेतु की पवित्रता के अनुरूप ही हो, तभी पवित्र बनता है। जैसा हेतु वैसा ही कार्य—यह हेतु और कार्य की जो अनुरूपता है, वही कार्य की कसौटी है। उदाहरणस्वरूप—अहिंसा का आचारण आध्यात्मिक कार्य है। उसका हेतु है—आत्म-शोधन। अध्यात्म की दृष्टि से अहिंसा का आचरण इसलिए अच्छा है कि वह आत्म-शोधन के अनुरूप है। आत्म-शोधन और अहिंसा की एकात्मकता है। आत्म-शोधन के लिए जो कुछ करे, वह धर्म नहीं किन्तु आत्म शोधन अनात्म-भाव की विरति से होता है। इसलिए आत्म-शोधन की दृष्टि से विरति धर्म है, अविरति अधर्म है।

हेतु और क्रिया का सामंजस्य हो (दोनों की एकरूपता हो), वहाँ यह बन सकता है :—

हेतु अच्छा—कार्य अच्छा।

हेतु बुरा—कार्य बुरा।

परिणाम अच्छा—कार्य अच्छा।

परिणाम बुरा—कार्य बुरा।

जिस कार्य का हेतु अपवित्र होता है—वह कार्य अपवित्र ही है, यह एकांगिता भी उचित नहीं। जैसे हेतु के पवित्र होने मात्र से कार्य पवित्र नहीं होता, वैसे ही हेतु के अपवित्र होने मात्र से कार्य अपवित्र नहीं होता। पवित्रता और अपवित्रता अपने-अपने स्वरूप में निहित होती है। हेतु इतना बलवान् हो कि वह कार्य के स्वरूप को ही बदल डाले; अथवा कार्य इतना बलवान् हो कि वह हेतु के स्वरूप को ही बदल डालें, वहाँ वे पवित्र हों या अपवित्र, उनकी एक-रूपता होती ही है। उसी का नाम है—हेतु और क्रिया का सामंजस्य, जिसके रूप ऊपर बताए जा चुके हैं। किन्तु जहाँ दोनों एक दूसरे को आत्मसात् नहीं *कर पाते, वहाँ वे एकांगी अवश्य होते हैं। पर उनका स्वरूप परस्परावलम्बी*

1—नीतिशास्त्र पृष्ठ २४।२५

नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति, 'अमुक हिंसक को समझाकर अहिंसक बनाऊं या अमुक अहिंसक हिंसा में जा रहा है, उसे फिर से अहिंसा में स्थिर करूँ'—इस पवित्र उद्देश्य को लिए चला। किन्तु चला असावधानी से। मार्ग में कीड़ों को कुचलते हुए चला। उसके जाने का उद्देश्य पवित्र है किन्तु जाना इसलिए पवित्र नहीं रहा कि उसका (जाने का) स्वरूप स्वयं हिंसात्मक हो गया। यदि वह सावधानी पूर्वक जाता, जीवों को नहीं मारता तो उसका जाना भी पवित्र होता। किन्तु जाने में हिंसा हुई, इसलिए वह वैसा नहीं हुआ।

दूसरा-मुख्य कार्य है—हिंसक को अहिंसक बनाना या अहिंसक को फिर से अहिंसा में स्थिर करना। हिंसक-अहिंसक बनेगा या नहीं और अहिंसक फिर से अहिंसा में स्थिर होगा या नहीं, यह तो उसी के विवेक पर निर्भर है। किन्तु जो समझाने चला, वह उन्हें समझाने के अपने प्रयत्नों को अहिंसक नहीं रख सका। उन्होंने उसकी बात नहीं मानी; वह क्रोध के मारे आग-बबूला हो गया, बकवास करने लगा आदि आदि। उद्देश्य पवित्र था किन्तु कार्य पवित्र नहीं हुआ।

ऐसे प्रसंगों में जहाँ हेतु और कार्य के स्वरूप एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं होते (उनका सामंजस्य नहीं होता), वहाँ हेतु और क्रिया में असामंजस्य की स्थिति में, उनका स्वरूप-विवेक ही उनकी कसौटी बनता है। स्वरूपात्मक कसौटी की दृष्टि से हेतु और कार्य के रूप इस प्रकार होंगे :—

१ हेतु अच्छा—कार्य बुरा।

२ हेतु बुरा—कार्य अच्छा।

पहले रूप का निदर्शन ऊपर की पंक्तियों में आ चुका है। दूसरे का निर्देशन इस प्रकार है :—

(१) एक व्यक्ति मार से बचने के लिए सच बोला। सच बोलने का हेतु सही नहीं है किन्तु वह असत्य नहीं बोला, यह गलत नहीं।

(२) रोटी नहीं मिली, अनिच्छा से भूख सही, यह अकाम—तपस्या है। इसका भावात्मक हेतु नहीं, इसलिए वह वस्तुवृत्या अहेतुक है। किन्तु अभावात्मक (रोटी के अभाव को ही) हेतु माना जाए तो उस स्थिति में यह

निष्कर्ष आता है कि रोटी का अभाव पवित्र नहीं। पवित्र है—भूख सहन, जो कि तपस्या है। श्री मज्जयाचार्य के शब्दों में—अकाम तपस्या में आत्म-शोधन की दृष्टि से भूख सहने की इच्छा नहीं है। यह बुराई है। किन्तु जो भूख सही जाती है, वह बुराई नहीं[1]।

पौद्‌गलिक सुख के लिए तपस्या की। यहाँ हेतु की दृष्टि से कार्य अच्छा नहीं है। फिर भी तपस्या का स्वरूप निर्दोष है, इसलिए स्वरूप की दृष्टि से वह बुरा भी नहीं।

हेतु और क्रिया की समंजस स्थिति जैसा परिणाम लाती है, वैसा परिणाम उनकी असमंजसता में नहीं आता—आत्म-शोधन के लिए होने वाली तपस्या में पवित्रता का जो सर्वांगीण उत्कर्ष होता है, वह अनिच्छा या पौद्‌गलिक इच्छा से होने वाली तपस्या में कभी नहीं होता। फिर भी एकांगिता में जितना होना चाहिए, उतना परिणाम अवश्य होता है।

एक व्यक्ति का उद्देश्य है—आत्म-शोधन, किन्तु वह शोधन की क्रिया से अनजान है। इसलिए वह उसके लिए शक्ति की उपासना करता है।

एक व्यक्ति का उद्देश्य है—बड़प्पन। उसकी पूर्ति के लिए वह तपस्वी बनता है।

पहले में क्रिया उद्देश्य के अनुरूप नहीं है। दूसरे में उद्देश्य क्रिया के अनुरूप नहीं है। प्रतिरूप क्रिया उद्देश्य को पूरा नहीं होने देती और प्रतिरूप उद्देश्य क्रिया को पूरा नहीं बनने देता। इसकी असमंजसता न मिटने तक पूर्णता आती ही नहीं, इसलिए यह स्थिति वांछनीय नहीं है फिर भी यह मानना पड़ता है कि स्वरूप की दृष्टि से दोनों एक नहीं हैं।

परिणाम से धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं होता। उसे आचार्य भिक्षु ने तीन उदाहरणों द्वारा यूं समझाया :—

(१) एक सेठ की दूकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के बारह बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। निःस्तब्ध वातावरण में चारों ओर मूक शान्ति थी। चोर आये। सेठ की दूकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियां

१—अकामेन निर्जरा अनभिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरणहेतुबुभुक्षादिसहनं यत् सा अकाम-निर्जरा।—स्थानांग वृत्ति ४।४।

से मुड़ने लगे। इतने में उनकी निःस्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई—"भाई! तुम कौन हो?" उनको कुछ कहने का, करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा कि साधु हैं, उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले—'महाराज हम हैं……।" उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नहीं, इसलिए उन्होंने और स्पष्ट शब्दों में कहा—"महाराज! हम चोर हैं……। साधुओं ने कहा—"इतना बुरा कार्य करते हो यह ठीक नहीं।"

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई और चोरों ने अपनी परिस्थिति। समय बहुत बीत चला। दिन होने चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। वे अब चोर नहीं रहे, इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ, लोग इधर-उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता-घूमता अपनी दूकान के पास से निकला। टूटे ताले और खुले किंवाड़ देख वह अवाक् सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दूकान की एक ओर चोर बैठे हैं, साधुओं से बातें कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियाँ पड़ी हैं। सेठ को कुछ आशा बंधी। कुछ कहने जैसा हुआ, इतने में चोर बोले—"सेठजी! यह आपका धन सुरक्षित है, चिन्ता न करें। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब-करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया।"

सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ। अपना धन सम्भाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया।

यह पहला चोर का दृष्टान्त है। इसमें दो बातें हुईं—एक तो साधुओं का उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी, इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी, उसके साथ सेठजी का धन भी बचा। अब सोचना यह

है कि इसमें आध्यात्मिक धर्म कौनसा है? चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची, वह या सेठजी का धन बचा, वह?

(२) कसाई बकरों को आगे किए जा रहा था। मार्ग में साधु मिले। उनमें से प्रमुख साधु ने कसाई को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई! इन बकरों को भी मौत से प्यार नहीं, यह तुम जानते हो। इनको भी कष्ट होता है, पीड़ा होती है, तुम्हें मालूम होता है। खैर, इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी, उसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा?"

मुनि का उपदेश सुन कसाई का हृदय बदल गया। उसने उसी समय बकरों को मारने का त्याग कर दिया और आजीवन निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का भी प्रत्याख्यान किया। कसाई-अहिंसक—स्थूल-हिंसा-त्यागी बन गया।

यह दूसरा कसाई का दृष्टान्त है। इसमें भी साधु के उपदेश से दो बातें हुई—एक तो कसाई हिंसा से बचा और दूसरी, उसके साथ-साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि इनमें आध्यात्मिक धर्म कौनसा है? कसाई हिंसा से बचा, वह या बकरे बचे, वह?

चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से। यह उनकी आत्म-शुद्धि हुई, इसलिए यह निसन्देह आध्यात्मिक धर्म है। इनसे—चोरी और हिंसा के त्याग से उन्हें धर्म हुआ किन्तु इन दोनों के प्रसंग में जो दो कार्य और हुए—धन और बकरे बचे, उनमें आत्म-शोधन का कोई प्रसंग नहीं। इसलिए उनके कारण धर्म कैसे हो सकता है? यदि कोई उन्हें भी आध्यात्मिक धर्म माने तो उसे तीसरे दृष्टान्त पर ध्यान देना होगा।

(३) अर्द्ध-रात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दूकान में तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। संयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से निकले। साधुओं ने उन्हें देखा और पूछा—"भाई! तुम कौन हो? इस घोर बेला में कहाँ जा रहे हो?" यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाये और उन्होंने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्ता कौन है? देखा, तब पता चला कि हमें इसका उत्तर एक साधु को देना है—सच कहें या झूठ? आखिर सोचा—साधु सत्यमूर्ति है। इनके सामने झूठ बोलना ठीक नहीं।

कहते संकोच होता है, न कहें यह भी ठीक नहीं क्योंकि इससे उनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले—"महाराज! क्या कहें? आदत की लाचारी है, हम पापी जीव हैं, वेश्या के पास जा रहे हैं।" साधु बोले—"तुम कुलीन दीखते हो, सच बोलते हो फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो, तुम्हें यह शोभा नहीं देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नहीं।"

साधु का उपदेश हृदय तक पहुँचा और ऐसा पहुँचा कि उन्होंने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का प्रत्याख्यान कर डाला। वह वेश्या बहुत देर तक उनकी बाट देखती रही, आखिर वे आए ही नहीं, तब उनकी खोज में चल पड़ी और घूमती फिरती वहीं जा पहुँची। अपने साथ चलने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह व्याकुल हो रही थी, उसने कहा—"आप चलें, नहीं तो मैं कुए में गिर आत्म-हत्या कर लूंगी।" उन्होंने कहा—"हम जिस नीच कर्म को छोड़ चुके, उसे फिर नहीं अपनाएंगे।" उसने तीनों की बात सुनी-अनसुनी कर कुए में गिर आत्म-हत्या कर ली।

यह तीसरा व्यभिचारी का दृष्टान्त है। इसमें भी दो बातें हुईं···एक तो साधु के उपदेश से व्यभिचारियों का दुराचार छूटा और दूसरी—उनके कारण वह वेश्या कुए में गिर मर गई। अब कुछ ऊपर की ओर चलें। यदि चोरी त्याग के प्रसंग में बचने वाले धन से चोरों को, हिंसा-त्याग के प्रसंग में बचने वाले बकरों से कसाई को धर्म हुआ माना जाए तो व्यभिचार-त्याग के प्रसंग में वेश्या के मरने के कारण इन तीनों व्यक्तियों को अधर्म हुआ, यह भी मानना होगा।

यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है कि धर्म-अधर्म आत्मा की मुख्य प्रवृत्तियों पर निर्भर है। प्रासंगिक प्रवृत्तियाँ धर्म-अधर्म का कारण नहीं बनतीं।

तीनों के परिणाम क्रमशः—(१) धन की रक्षा (२) बकरों की रक्षा और (३) वेश्या की मृत्यु है। परिणाम से कार्य का मूल्य आंका जाए तो एक ही कोटि का कार्य दो जगह अच्छा होगा और तीसरी जगह बुरा, किन्तु ऐसा होने पर किसी भी कार्य का मूल्यांकन स्थिर नहीं हो सकता। चोरी का त्याग, जीव-हिंसा का त्याग और व्यभिचार का त्याग, जो मुनि के उप-

देश से हृदय-परिवर्तन होने पर आत्म-शुद्धि के लिए किए गए उनका स्वरूप विरति या संयम है और वे आत्म-शुद्धि के विरोधी नहीं हैं तथा उनका अनन्तर परिणाम आत्म-शुद्धि है।

आचार्य भिक्षु ने इस स्वरूप-विवेकात्मक कसौटी से धर्म-अधर्म को कसा और उनके लक्षण बाँधे। उनकी परिभाषा के अनुसार अहिंसा ही धर्म है। उसका लक्ष्य है—आत्म-शुद्धि-साधकता। सुख-साधकता धर्म का लक्षण नहीं है। कई प्राचीन तत्त्ववेत्ता सर्व-भूत-सुख को ही मनुष्य का श्रेष्ठ ध्येय मानते थे। उस पक्ष का सार यह है कि लोक-हितकारक और लोक-सुखकारक जो कर्म हैं, वह धर्म है लोक-दुःखकारक अधर्म। कुमारिल भट्ट ने इस पक्ष को अमान्य बतलाया। कारण साफ है—श्रुति, स्मृति और परम्परा के बहुत सारे विधि-निषेध इस कसौटी पर ठीक नहीं उतर सकते। आचार्य भिक्षु ने बताया—आध्यात्मिक भूमिका का सुख है—निर्जरा—आत्म-शुद्धि। धर्म उसका साधन है। वह पौद्गलिक सुख का साधन हो तो अधर्म जैसा कोई कार्य रहता ही नहीं। डॉ० लक्ष्मण शास्त्री ने प्रो० दफ्तरी के मत की मीमांसा करते हुए लिखा है—"दफ्तरीजी धर्म का मुख्य लक्षण सुख-साधकता बतलाते हैं, परन्तु यह धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि बहुत सारे सामाजिक कर्तव्य ऐसे होते हैं कि उनसे व्यक्ति को दुःख और संकट ही मिलता है। फिर भी उन्हें पूरा करना पड़ता है। इस पर कोई यह कहेगा कि किसी भी व्यक्ति की कर्म-प्रवृत्ति सुखार्थ अथवा दु;ख-निवारणार्थ होती है। पर—हितार्थ निरन्तर रत रहने वाले साधु और सर्वथा स्वार्थी कृपण मनुष्य—इन दोनों की प्रवृत्ति सुखार्थ ही होती है। फांसी पर जाने वाले देश-भक्त को भी एक प्रकार का सुख प्राप्त होता है। इसका उत्तर यह है कि तो फिर सुख-साधकता धर्म्य और अधर्म्य ठहराने की कसौटी नहीं हो सकती। कारण एक ही क्रिया कितने ही व्यक्तियों के लिए सुख-साधन और कितने ही व्यक्तियों के लिए दुःख-साधन हो जाती है। यज्ञ के पुरोहित को दान करना, यह क्रिया वेदों पर श्रद्धा रखने वाले यजमान को सुख, सन्तोष देती है और वही क्रिया वेदों पर श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य को विषाद और असन्तोष उत्पन्न कर देती है, क्योंकि विशिष्ट कर्तव्यों का मूल्य विशिष्ट सामाजिक स्थिति में ही उत्पन्न होता है।

सनातन धर्म की परम्परा पर विश्वास रखने वाले चमार को अस्पृश्यता के व गुलामगिरी के नियम पालने में अत्यन्त सुख सन्तोष मिलता है, और उस पर श्रद्धा न रखने वाले चमार को दुःख और पाप जान पड़ता है। इस तरह सुख साधकता धर्म का लक्षण नहीं बन सकता[१]।"

जहाँ विरति नहीं, वहाँ दया, दान या कुछ भी हो, वह आत्म-शुद्धि-साधक धर्म नहीं है। थोड़े में उनके विवेकवाद का यही सार है। विवेकवाद के आचार्यों ने इस सिद्धान्त को लगभग यूं ही माना है। काण्ट (kant) के अनुसार—"दया अथवा मोह से प्रेरित होकर स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के विरुद्ध काम करना मानसिक बीमारी का लक्षण है[२]।"

"जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है[३]।"

जिन संवेगों और आवेगों को लोग भला समझते हैं, उन्हें स्टोइक लोग बुरा समझते थे[४]। "किसी भी परिस्थिति में दया के आवेश में आना बुरा है। मनुष्य दया के आवेश में आकर भी अपने विवेक को भूल जाता है और न्याय न करके समाज का अहित कर देता है। दया के स्थान पर स्टोइक लोग प्रशान्त मन रहने और सद्‌भावना लाने का आदेश करते हैं। सब प्राणियों में आत्मीयता स्थापित करनी चाहिए। आत्मीयता उपादेय है दया नहीं[५]"।

आचार्य भिक्षु का विवेकवाद आध्यात्मिक विवेकवाद है। उन्होंने कहा—"दया मात्र, दान मात्र आध्यात्मिक हैं—ऐसी मान्यता उचित नहीं। वही दया और दान आध्यात्मिक है जो अहिंसात्मक है, राग-द्वेष रहित है। शेष दया-दान अन् आध्यात्मिक है।"

१—हिन्दू धर्म की समीक्षा पृष्ठ ६९

२—नीतिशास्त्र पृष्ठ १६९

३—नीतिशास्त्र पृष्ठ १६८

४—विवेकवाद का एक विशेष मत 'स्टोइकवाद' है। ईसा से ३०० वर्ष पहले साइप्रस द्वीप के निवासी 'जैनों' ने इसका प्रवर्तन किया।

५—नीति शास्त्र पृष्ठ १७८

उनके आध्यात्मिक विवेकवाद के फलित ये हैं :—

(१) विरति धर्म है।

(२) अविरति अधर्म है।

(३) सुख-साधकता धर्म का लक्षण नहीं है।

(४) संसार और मोक्ष का मार्ग भिन्न-भिन्न है।

(५) परिणाम से धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं होता।

(६) क्रिया का फल वर्तमान में होता है, पहले पीछे नहीं।

(७) व्रत-वृद्धि के लिए अविरति-पोषण धर्म नहीं।

(८) परिग्रह का आदान-प्रदान धर्म नहीं।

(९) हिंसा में और हिंसा से धर्म नहीं होता।

(क) एक की रक्षा के लिए दूसरे को मारना धर्म नहीं।

(ख) बड़ों के लिए छोटों को मारना धर्म नहीं।

(ग) देव, गुरु और धर्म के लिए हिंसा करना धर्म नहीं।

(१०) धन से धर्म नहीं होता।

(११) बलात्कार से धर्म नहीं होता।

(१२) हिंसा किये बिना धर्म नहीं—ऐसा मानना मिथ्या है।

(१३) एक ही कार्य में अल्प-पाप, बहु निर्जरा होती है—ऐसा मानना मिथ्या है।

(१४) मिश्र धर्म, एक ही प्रवृत्ति में धर्म-अधर्म दोनों की प्ररूपणा मिथ्या है।

(१५) व्रताव्रती का आहार व्रत और अव्रत दोनों का पोषक नहीं।

(१६) गृहस्थ दान का पात्र—अधिकारी नहीं।

(१७) गृहस्थ का खान-पान अव्रत में है।

(१८) तपस्या धर्म है, पारणा धर्म नहीं।

अहिंसा-सूक्त

(१) अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

(२) अहिंसार्थाय भूतानां, धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः, स धर्म इति निश्चयः॥

—महाभारत शान्ति पर्व १०३।१५

(३) अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दान-महिंसा परमं तपः ॥

(४) अहिंसा परमो यज्ञः, तथाऽहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्र-महिंसा परमं सुखम् ॥

—महाभारत अनुशासन पर्व ११६।३७,३८

(५) सर्वजीवदयार्थं तु, ये न हिंसन्ति प्राणिनः।
निश्चितं धर्म-संयुक्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

(६) अहिंसा लक्षणो धर्मो-ऽधर्मश्च प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः, कर्तव्या प्राणिनां दया ॥

—महाभारत शान्ति पर्व ३३।७२,४२

(७) जे जीव मार्‌यां मैं धर्म कहै छै, रूलै काल अनन्तो जी।
सुयगडायंग अध्ययन इग्यारमैं, त्यां भाष गया भगवन्तो जी ॥

(८) हिंसा री करणी मै दया नहीं छै, दया री करणी मैं हिंसा नांही जी।
दया नै हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नै छांही जी ॥

—अनुकंपा ६।६४,६६

(९) और वस्तु मैं मेल हुवै पिण, दया मैं नहीं हिंसा रो मेलो जी।
ज्यूं पूर्व नै पश्चिम रो मार्ग, किण विध खावै मेलो जी ॥

—अनुकंपा ६।७०

(१०) दया धर्म छै जिनवर तणो, तिण मैं जीव न हणवो कोयजी।
जीव मार्‌यां धर्म न नीपजे, प्रवचन साहमो जोयजी ॥

—निक्षेपां री चौपई ६।७६

(११) केइ हिंसा धर्मी जीवड़ा, ते जीव मार्‌यां कहै धर्म।
जे विवेकविफल सुधबुध बिना, भूला अज्ञानी मर्म ॥

—निक्षेपां री चौपई ७।१ दोहा

(१२) कुगुरु कहै हिंसा कियां बिना, धर्म न होवे कोय जी।
पोतै त्याग किया हिंसा तणा, त्यां में धर्म किहा थी होय जी ।।
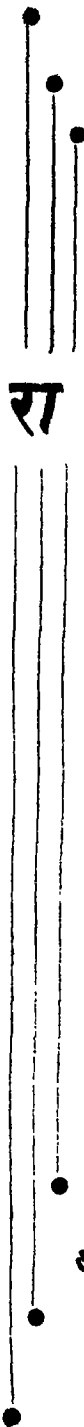
—निक्षेपां री चौपई ६।३६

(१३) लोही खरड्यो जे पीताम्बर, लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा मैं धर्म कियां थी, जीव उज्ज्वल किमथायो रे ॥

—व्रताव्रत चौपई १।१६

तीसरा खण्ड

अहिंसा का जीवन में उपयोग

दसवां अध्याय

२५३-२८०

* अहिंसा की कुछ अपेक्षाएं
* अन्याय का प्रतिकार
* अध्यात्म के विचार-बिन्दु
* निष्क्रिय अहिंसा का उपयोग
* अहिंसा का समग्र रूप
* स्वास्थ्य- साधना
* अहिंसा का विवेक
* खाद्य- विवेक
* अन्तर्मुखी- दृष्टि
* विकार-परिहार की साधना
* विवेक-दर्शन
* आत्म-दर्शन
* बहिर्व्यापार-वर्जन

अहिंसा की कुछ अपेक्षाएँ

'अहिंसा पोथी की चीज है'—यह धारणा सौ में नव्वे की है। कुछ अंशों में सही भी है। अहिंसा के बारे में जितना लिखा गया, कहा गया, उपदेश दिया गया, उतना उसका आचरण नहीं हुआ। फिर भी अहिंसा जीवन में उतरी है। मनुष्य का सामाजिक रूप अहिंसा की भावना का एक छोटा प्रतिबिम्ब है। अनाक्रमण और भाईचारे का बर्ताव अहिंसा नहीं तो क्या है? अगर मनुष्य हिंसा-परायण ही होता तो वह अपने को सामूहिक जीवन के ढांचे में ढाल नहीं पाता।

मनुष्य का विवेक, विचारशीलता और बुद्धि का विकास देखते वह प्रश्न फिर आँखों के सामने आता है कि मनुष्य में अहिंसा की मात्रा कम है। उसे जितना अहिंसक होना चाहिए, उतना वह नहीं है। उसकी थोड़ी अहिंसा, अहिंसा जैसी लगती ही नहीं। हिंसक पशु भी भूख और भय से आक्रान्त न हों तो सहसा प्रहार नहीं करते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे अहिंसक हैं। बहुत सारे पशु-पक्षी सामुदायिक जीवन भी बिताते हैं। हिंसक पशु सामूहिक जीवन बिताने में रस नहीं लेते, फिर भी उनमें आपसी आक्रमण प्रायः नहीं होता। यही कारण है कि सामान्य स्थिति में अनाक्रमण, भाईचारा और सामूहिक जीवन-यापन से अहिंसा के परिणाम नहीं बनते, दूसरे शब्दों में इनसे उनकी उद्‌बुद्ध अहिंसा का परिचय नहीं मिलता।

आक्रमण को अनाक्रमण से जीते, यह अहिंसा का जागृत स्वरूप है; जिसकी मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी से ही अपेक्षा की जा सकती है। पशु कार्य कर सकता है, उसका परिणाम नहीं सोच सकता। मनुष्य अतीत से शिक्षा ले सकता है और भविष्य की कल्पना कर सकता है। उसका कार्य इन दो शृंखलाओं से जुड़ा हुआ होता है। मनुष्य कार्य करते-करते लाभ-अलाभ, हित-अहित और इष्ट-अनिष्ट की चिन्ताओं से घिरा रहता है। इस स्थिति में यह प्रश्न होता है कि क्या अभी तक मनुष्य अहिंसा का मूल्य आंक नहीं सका है अथवा उसे समझकर भी उसका आचरण करने में असमर्थ है? दूसरी

बात में हमारा मानसिक समाधान मिलता है। अहिंसा को समझ लेना ही काफी नहीं है। अहिंसक बनने के लिए उसके योग्य सामर्थ्य का विकास करना आवश्यक है। पण्डित और साधक,—ये दो चीजें हैं। जानना पण्डिताई का काम हो सकता है किन्तु करने में साधना चाहिए।

पशु और पण्डित में जितना भेद है, उतना ही भेद पण्डित और साधक में है। पशु अहिंसा की भाषा नहीं जानता जबकि पण्डित जानता है। साधक वह है जो उसकी भाषा जानने तक ही न रहे; उसकी साधना करे।

अब हम पशुओं की बात छोड़ दें, अपनी बात करें। जहाँ तक देखा जाता है; हममें अहिंसा के पण्डित अधिक हैं, साधक कम, इसीलिए अहिंसा का विकास कम हुआ है। मनुष्य ज्ञान के क्षेत्र में अन्य प्राणियों से आगे है। उसकी बढ़ी-चढ़ी तर्कणा शक्ति ने उसे अधिक स्वार्थी बनने में सहयोग दिया है। उसके पास ऐसे तर्क हैं, जिनके द्वारा वह अपने लिए होने वाली दूसरों की हिंसा को क्षम्य ही नहीं, निर्दोष बता सकता है। आखिर यह होता है कि अहिंसा आत्मा तक बिना पहुँचे ही शब्दों के जाल में उलझ जाती है।

हिंसा जीवन की कमजोरी है—अशक्यता है किन्तु स्वभाव नहीं। इसीलिए हिंसा मिटाई जा सकती है और मिटाई जानी चाहिए। प्रयत्न की जरूरत है। कमजोरियों से छुट्टी पाए बिना हिंसा छूट नहीं सकती, इसीलिए हमें इस विषय पर सोचना चाहिए कि जीवन में अहिंसा का प्रयोग कैसे किया जाए।

हिंसा और अहिंसा के परिणामों को जानने से हिंसा के प्रति ग्लानि और अहिंसा के प्रति रुचि पैदा हो सकती है, इसलिए आचार्यों ने हमें उनकी परिभाषाएं दीं। वे समझने की चीजें हैं। उनसे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। बनने-बिगड़ने की बात हमारे कार्यों से पैदा होती है। हमारी हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध हमारे कार्यों से है। उनके पीछे भय, स्वार्थ, अहं, क्रोध, आग्रह, छल-कपट आदि अनेक भावनाएं होती हैं। उन्हीं के कारण वृत्तियां कलुषित बनती हैं, हिंसा का वेग बढ़ जाता है। जीवन में अहिंसा लानी है तो हमें दो काम करने होंगे—एक तो भावनाओं को पवित्र करना,

होगा और दूसरे कार्यों को बदलना होगा। उनको कैसे बदलें? भावनाओं को पवित्र कैसे बनाएं? इसपर कुछ विचार करना है।

अहिंसा का मानदण्ड निजी जीवन नहीं होता। साधना के उत्कर्ष काल में हो सकता है। यह बात प्रारम्भिक दशा की है। मनुष्य दूसरों की हिंसा को जितनी स्पष्टता से समझ सकता है, उतनी स्पष्टता से अपनी हिंसा को नहीं समझ सकता। अपनी भूलों के पीछे कोई न कोई तर्क या युक्ति लगी रहती है। वह अपनी भूलों को ज्यों-त्यों सही करने की चेष्टा में लगा रहता है, दूसरे की भूल साफ-साफ समझने में आती है। वहाँ सफाई सामने नहीं आती। कोई सफाई लगाए तो वह बुरी मालूम होती है। कारण साफ है। दूसरे की बुराई को समझने में कठिनाई इसलिए नहीं होती कि उसके प्रति हमारी आँखें मोह से ढकी हुई नहीं हैं, बीच में कोई आवरण नहीं है। भावनाओं में भी न्याय है। हम स्वयं को या अपनों को इसलिए ठीक नहीं कूंत सकते कि हममें अपने प्रति अब भी मोह और अन्याय करने की भावना मौजूद है।

(१) अहिंसा का पहला प्रयोग यही होना चाहिए—हम स्व-पर की भूमिका से ऊपर उठें। अहिंसा के विकास में सबसे बड़ी बाधा अगर कोई है तो यह स्व और पर का भेद है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड़ता है। लड़ने का कारण है—उसके लड़के की दूसरे आदमी के लड़के के साथ बोलचाल हो गई। दोषी दोनों हैं फिर भी वह पक्ष अपने पुत्र का लेगा, कारण कि वह उसका है। दूसरा, दूसरा है। उससे क्या मतलब? व्यवहार में ये बातें चलती हैं। ऐसी छोटी-छोटी बातों पर बड़ी-बड़ी लड़ाइयां छिड़ जाती हैं। किन्तु अहिंसा इन्हें नहीं सह सकती। अहिंसा के सामने स्व पर जैसी कोई चीज ही नहीं होती। वहाँ यह भावना ही नहीं होती कि यह मेरा है, इसलिए इसके दोष को छिपाऊँ, दोषों का प्रतिकार न करूं। अहिंसक अपने दोषों को छिपाने की बात भी नहीं जानता। वह साफ होता है, उतना साफ जितना कि स्फटिक। हिंसक व्यक्ति भूलों को छिपाकर रखने में जहाँ गौरव मानते हैं, वहाँ अहिंसक भूलों को दूसरे के सामने रखकर अपने को हलका अनुभव करते हैं। इसके पीछे आत्म-बल होना चाहिए। अहिंसा के लिए शरीर-बल से कहीं अधिक आत्म-बल की अपेक्षा है। मानसिक कमजोरी

आई; छिपाने-दबाने की बात आई कि अहिंसा दो नौ ग्यारह हो जाती है। छिपाने का अर्थ है—वक्रता, उसका मतलब है—हिंसा।

आत्म-बल स्वयं साधना का फल है। यह अहिंसा की रुचि से बढ़ता है। उससे अहिंसा का विकास होता है।

(२) अहिंसक के सामने आगे बढ़ने का एक पवित्र लक्ष्य होना चाहिए। उसके बिना वह आत्म-बल बटोर नहीं सकता। अहिंसक सरलता से बोलता है, सरलता से चलता है और सरलता से करता है। सरलता के सामने कुटिलता का पर्दा-फाश होता है, इसलिए हिंसा का अहिंसा पर प्रहार होने लगता है। वह प्रहार अनेकमुखी होता है—कभी व्यक्तियों द्वारा, कभी परिस्थितियों द्वारा, तो कभी-कभी उसकी अपनी निजी प्रवृत्तियों द्वारा भी; कभी प्रतिकूल तो कभी मनोनुकूल। इस हालत में अगर एक निश्चित लक्ष्य न हो तो साधक फिसले बिना नहीं रह सकता।

आत्म-विकास का लक्ष्य लेकर चलने वाला कहीं कष्ट पाए, गालियाँ सुने, मारा पीटा जाए, फिर भी कतराता नहीं। वह सोचता है कि स्व-प्रशंसा और पूजा से मैं ऊंचा नहीं उठा तो इनसे नीचा भी नहीं होऊंगा। ये दोनों पौद्गलिक जगत् के परिणाम हैं। मुझे आत्म-जगत् में जाना है। सुखी रहूँ चाहे दुःखी, प्रशंसा सुनूं चाहे निन्दा, पूजा जाऊं चाहे पीटा जाऊं; इनसे होना जाना क्या है? मेरा लक्ष्य मिलेगा—मेरी समता से। वह बनी रहनी चाहिए। अनुकूलता में राग या उत्कर्ष, प्रतिकूलता में द्वेष या अपकर्ष नहीं होना चाहिए। यही आत्म-बल है। विश्व-विजेता मल्ल या योद्धा अपनी निन्दा सुनकर दुमना हो जाता है किन्तु अहिंसक नहीं होता। योद्धा का लक्ष्य साधक के लक्ष्य से भिन्न है। सोचने की दृष्टि भी एक नहीं है। योद्धा सोचेगा, निन्दक ने मेरा अनिष्ट किया। साधक सोचेगा, मेरा अनिष्ट करने वाला कोई है ही नहीं। निन्दक अपने आप अपना अनिष्ट कर रहा है। यह अन्तर है लक्ष्य का। निन्दा के द्वारा योद्धा के लक्ष्य में बाधा आ सकती है किन्तु साधक के लक्ष्य में कोई बाधा नहीं आ सकती, इसलिए वह निन्दाकाल में भी समदृष्टि रह सकता है।

(३) लक्ष्य की निश्चितता से जैसे आत्म-बल बढ़ता है, वैसे निर्भयता भी

बढ़ती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति बढ़ती है। अहिंसा के मार्ग में सिर्फ अन्धेरे का डर ही बाधक नहीं बनता, और भी बनते हैं। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने अनजाने अनेकों डर सताने लग जाते हैं, तब अहिंसा से डिगने का रास्ता बनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नहीं डिगता। वह जानता है—ऐश्वर्य जाए तो चला जाए; मैं उसके पीछे नहीं हूँ। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मौत के लिए तथा औरों के लिए है। मैं सच बोलूंगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच रहूँगा। फिर चाहे कुछ भी क्यों न सहना पड़े? अहिंसक को धमकियां और बन्दर-घुड़कियाँ भी सहनी पड़ती हैं। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नहीं घबराता। इन सब बातों से भी एक बात और बड़ी है। वह है—कल्पना का भय। जब तब यह भावना बन जाती है—अगर मैं यों चलूंगा तो अकेला रह जाऊंगा, कोई भी मेरा साथ नहीं देगा, यह अहिंसा के मार्ग में काँटा है। अहिंसक को अकेलेपन का डर नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य सही है, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक दिन दुनियां उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य भिक्षु स्वामी भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरों के आक्षेप, असहयोग आदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिंसा के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

पिछली पंक्तियों में जो थोड़ा-सा विचार किया गया, उसका फलित यह होगा—जो व्यक्ति स्व-पर के भेदभाव से ऊंचा उठा हुआ है, जिसके सामने पवित्र लक्ष्य है, जिसका आत्म-बल विकसित है और जो निर्भय है; वही अहिंसक बन सकता है। यह अहिंसा की भूमि है। अब तक उसी की चर्चा हुई है। अहिंसा की कसौटी क्या है? अहिंसा का तेज कहाँ निखरता है? इस पर भी कुछ ध्यान दे लें।

एकान्तवास में आदमी अहिंसक बन सकता है किन्तु अहिंसा की परख वहाँ नहीं हो सकती। इसका क्षेत्र है—सहवास। सबके साथ रहकर या सबके बीच रहकर जो अहिंसक रहता है, वहाँ उसकी परख होती है।

एक साथी क्रोधी है, दूसरा अभिमानी है, तीसरा मायावी है और चौथा लोभी है—उनके साथ कैसे बरता जाए ?

(क) साथी बात-बात में गुस्सा करता है, अंटसंट बोलता है, बकवास करने में भी नहीं चूकता, बाज वक्त गालियाँ भी सुना देता है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—इसका मतलब है—हिंसा। सामने के व्यक्ति को अहिंसक रहना है और साथी को भी साथ लिए चलना है। अगर वह शान्त-भाव से सब कुछ सहता चला जाता है तो लोग उसे कायर बताते हैं। अब वह क्या करे ?

अहिंसक में चैतन्य होना चाहिए। निर्जीव अहिंसा दीनता का ही दूसरा रूप है। अहिंसक क्रोधी के आवेग को सहे जरूर, किन्तु दीन बनकर नहीं। क्रोधी को यह भान होते रहना चाहिए कि अहिंसक में प्रतिकार करने की शक्ति है, फिर भी वह अपने धर्म की रक्षा के लिए सब कुछ सहता है। क्रोधी एकपक्षीय क्रोध आखिर कब तक करेगा ? उसे क्रोध करने का पूरा अवसर मिलता है तो निश्चित समझिए उसका क्रोध खतरे में है। क्रोध-क्रोध से बढ़ता है। क्रोध के बदले क्षमा मिलती है, तब वह स्वयं पछतावे में बदल जाता है। यों चलते-चलते क्रोध स्वयं निस्तेज हो जाता है और क्षमा उस पर विजय पा लेती है।

(ख) साथी अभिमानी है, वह चाहता है—पूजा, प्रशंसा और गुणानुवाद। अहिंसक को यह न रुचे। वह उसका उत्कर्ष न साध सके, तब संघर्ष होता है। उसकी आत्म-सन्तुष्टि अथवा संघर्ष को टालने के लिए क्या अहिंसक चलती बातें करे ? अगर न करे तो उसका परिणाम होता है—आपसी अनबन। इस स्थिति में वह कौनसा मार्ग चुने ? पहला या दूसरा ?

प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा में विशेषताएं होती हैं। अहिंसक उन्हें सामने रखकर चले। निःसंकोचतया उन्हें प्रकाश में लाए। ईर्ष्या न करे। एक विशेषता बताकर आदमी दस कमियां बताए तो वे अखरती नहीं पर कभी-कभी अखर भी जाती हैं। केवल भूलें ही भूलें सामने रखी जाएं तो सुनने वाला उकता जाता है या पहल में ही चिढ़ जाता है। सामान्यतया अपनी प्रशंसा सुनने में हर एक व्यक्ति को दिलचस्पी होती है। हम उसकी विशेषता बताएंगे तो वह जरूर हमारे प्रति आकृष्ट होगा। आकर्षण में अप-

नरब होता है। अपनत्व के नाते आदमी कड़वी घूंट भी भी पी सकता है। रोगी को पहले विश्वास होना चाहिए कि इस दवा से मुझे लाभ होगा, तभी उसे कटुक या कुटज पिलाया जा सकता है। अहिंसक को सबके दिलों में विश्वास पैदा करना चाहिए। विश्वास के द्वारा जब दूसरों के दिलों को वह जीत लेता है, तब उसकी कठिनाई मिटती तो नहीं, किन्तु हाँ, कम जरूर हो जाती है।

मूल बात यह है कि अहिंसक ललचाये नहीं। वह दूसरे को प्रसन्न रखने की चेष्टा करे किन्तु इसलिए नहीं कि उसके द्वारा उसे लाभ मिले या स्वार्थ सधता रहे। यह हिंसा की भावना है, आत्मा की कमजोरी है।

अहिंसक अपनी मर्यादा तोड़कर किसी को प्रसन्न रखने की बात नहीं सोच सकता। प्रशन्नता का अधिक से अधिक अर्थ तो यह हो कि आपसी सद्भावना या गुणानुराग या गुणोत्कीर्तन से दूसरे को अपनी ओर खींचना। खींचने का मतलब बाँधने की बुद्धि नहीं, केवल भाईचारा बढ़ाने की भावना है।

यह तो कभी नहीं हो सकता कि अहिंसक थोथी बड़ाई की पुलें बाँधकर किसी को टिकाए। यह दोष आत्म-श्लाघा से कम नहीं है। इस प्रवृत्ति से केवल अहिंसक ही टोटे में नहीं रहता, सामने वाले व्यक्ति को भी बड़ा धक्का लगता है; उस समय वह समझे या न समझे। झूठी प्रशंसा से उसके अभिमान का पारा और बढ़ जाता है। उसका उत्कर्ष उसे फिर वहाँ ले जाता है जहाँ कि उसे नहीं जाना चाहिए अथवा वहाँ जाने का अर्थ होता है उसका पतन। झूठी प्रशंसा आदमी को आगे नहीं ले जाती। यह वेश्या है, जो एक बार ललचाकर सदा के लिए गिरा देती है।

जहाँ तक सम्भव हो, अहिंसक आपसी अनबन टालने की चेष्टा करे किन्तु उसका मूल्य ज्यों-त्यों किसी को रिझाना ही हो तो उसके लिए वह बाध्य नहीं हो सकता। वह स्वयं अनबन के रास्ते पर न जाए। दूसरा कोई जाए तो उसकी जिम्मेवारी अहिंसक नहीं ले सकता।

अहिंसक को नम्र होना चाहिए किन्तु दूसरों की बुराइयों को प्रोत्साहन देने के लिए नहीं। दूसरे के गुणों के प्रति और अपनी वृत्ति के प्रति जो नम्रता

होती है; उसी का नाम नम्रता है। बुराई के सामने झुकना नम्रता नहीं है। लालची वृत्ति से झुकना भी नम्रता नहीं है।

अहिंसक बुराई के साथ कभी भी समझौता नहीं कर सकता, इसलिए उसे जितना नम्र होना चाहिए उतना कठोर भी। 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि'—यह बात अहिंसक के लिए सोलह आने सही है। कठोर किसी व्यक्ति के प्रति नहीं, अपनी वृत्तियों के प्रति होना चाहिए ताकि बुराई से समझौता न करने के कारण पैदा होने वाली कठिनाइयों का दृढ़ता से सामना कर सके।

(ग) साथी मायावी है। वह छल से चलता है। कहता कुछ है और करता कुछ ही। मन में कुछ ही है और बाहर से कुछ ही दिखाता है। इस हालत में अहिंसक उसके साथ कैसे चले?

अहिंसक का दिल साफ होना चाहिए। चलते-चलते पैंतरा बदलना उसके लिए उचित नहीं। माया वह करता है, जो अन्दर की कमजोरियों के बावजूद भी अपने को बहुत बड़ा व्यक्ति सिद्ध करना चाहता है। अहिंसक में बड़ा बनने की भूख नहीं होनी चाहिए फिर वह माया क्यों करे? वह हर काम सचाई के साथ करे। जो बात दिल में आए, वह साफ-साफ कह दे। कहने का अवसर न हो तो मौन रखले किन्तु दिल में कुछ और कहे कुछ, ऐसा कभी न करे। किसी को झूठा विश्वास दिलाना बहुत बड़ी हिंसा है। अहिंसक को चाहिए कि वह अपनी कमजोरियों को छिपाए नहीं। दूसरों को धोखे में रखना बड़ी भूल है।

मायावी की चालों को समझना जरूर चाहिए। चालाकी को समझना हिंसा नहीं है। हिंसा है चालाकी करना।

अहिंसक में फलाशा नहीं होनी चाहिए। एक के बदले दस पाने की लालसा नहीं होनी चाहिए। इससे माया की वृत्ति बढ़ती है। सरलता से बरतने वाला दूसरों को भी सरल बना देता है। सम्भव है कोई न भी बने, फिर भी अहिंसक के लिए तो सरलता के सिवाय दूसरा विकल्प ही नहीं है।

(घ) साथी लोभी है। वह हर काम लालच से करता है, स्वार्थ को आगे किए चलता है। अपनी चीजों पर ममत्व है। उनकी चिन्ता करता है। दूसरों की वस्तुओं का प्रयोग करता है। अच्छी चीजों पर टूट पड़ता है। उसकी

चीजों का दूसरा कोई उपयोग करे तो बिगड़ जाता है। खान-पान की भी आसक्ति है। अहिंसक को उसे कैसे पाना चाहिए?

अहिंसक की भूमिका परमार्थ की होती है। वह परमार्थ को आगे कर स्वार्थ से लड़े। वह सोचे—ये पौद्गलिक वस्तुएँ बिगड़ने वाली हैं, नष्ट होने वाली हैं, उपयोग होगा तो भी बिगड़ेंगी, उपयोग नहीं होगा तो भी बिगड़ेंगी। तब फिर आसक्ति क्यों? यों सोचकर उनकी चिन्ता से मुक्त बने, अभ्यास करें। असम्भव दीखने वाली बात भी अभ्यास से सम्भव बन जाती है। किसी ने अपनी वस्तु का उपयोग कर लिया तो कर लिया इसमें बिगड़ा क्या? इस तुच्छ बात को लेकर स्वयं बिगड़ जाए, यह कितना बुरा है। ऐसी स्थिति में वही व्यक्ति आपे से बाहर होता है, जो आसक्त होता है। अहिंसक का पहला लक्षण है—अनासक्ति। वह संयम के लिए और संयम-पूर्वक खाए, पीए, पहने और जीए।

अच्छा खान-पान, अच्छा रहन-सहन, अच्छा वस्त्र सहज मिले तो न ले; यह कोई बात नहीं किन्तु उनके लिए मारा-मारा न फिरे। उनकी फिक्र में न रहे। परिस्थिति बदलने पर सहज मिलने वाली चीजें भी त्याग दें। अगर आसक्ति के भाव बढ़ने की सम्भावना हो, उसको समाज अच्छा न समझे, दूसरों को वह असह्य हो उठे, समाज में असन्तोष की मात्रा बढ़ती हो, सबको या बहुतों को वे चीजें सुलभ न हों, ऐसी स्थिति में अहिंसक को अपनी अनासक्ति का भाव अधिक जगाना चाहिए, त्याग का विशेष परिचय देना चाहिए। ऐसा करके वह साथी को ममत्व के जाल से बाहर निकाल सकता है।

अहिंसक को यह सोचकर नहीं रह जाना चाहिए कि दूसरे ईर्ष्या करते है, मैं उनकी ओर क्यों ध्यान दूं? ठीक है, ईर्ष्या बुरी है। अनधिकारी किसी दूसरे की विशेषता पर सोचे, वह ईर्ष्या हो सकती है किन्तु अपने वर्ग में असामंजस्य न आए, भेदभाव न बढ़े, इस दृष्टि से सोचना ईर्ष्या नहीं है। दूसरे की स्थिति को ठीक आंकना चाहिए।

लालची के साथ लालची जैसा बर्ताव करने पर स्थिति बिगड़ती है। लालची के साथ सन्तोष—परितृप्ति बरतने से उसकी अतृप्ति अपने आप सिकुड़

जाती है। हवा को रोकिए, उसका वेग बढ़ेगा—शक्ति बढ़ेगी। उसे खुले स्थान में छोड़ दीजिए, वह अपने आप बिखर जाएगी। यही बात बिगड़े लालच की है। लालची स्वयं समझकर उसका वेग रोके तो रुक सकता है। अगर कोई दूसरा व्यक्ति उसके वेग को बलात् रोकना चाहे तो वह रुकने के बजाय उभर जाता है अथवा दूसरी बुराई के रूप में बदल जाता है। इस जगह अहिंसक को आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति से काम लेना चाहिए। एलोपैथिक पद्धति उसके लिए उपयोगी नहीं है। वह रोग को तेज दवा से दबाती है। उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। एक बार रोग दब जाता है। शान्ति मिलती है पर दबा हुआ रोग दूसरे भयंकर रोग के रूप में सामने आता है। आयुर्वेदीय दवा रोगी को एकाएक शान्ति नहीं पहुंचाती, धीरे-धीरे उसके रोग की जड़ काटती है। अहिंसक भी एकाएक किसी को दबाता नहीं। उसकी सन्तोष पूर्ण प्रवृत्तियां धीमे-धीमे लालच को उखाड़ फेंकती हैं।

अन्याय का प्रतिकार

सहवास में एक ओर जहाँ आपसी वैयक्तिक झमेले उठते हैं, वहाँ दूसरी ओर अनधिकार चेष्टा तथा अन्यान्य के थोपे जाने का खतरा रहता है। ऐसी स्थिति में अहिंसक को चुप्पी साधनी चाहिए या प्रतिकार करना चाहिए।

अहिंसक के लिए मौन अच्छा साधन है। मौन साधने पर भी अन्याय नहीं टल सके तो उसके लिए एक मात्र प्रतिकार का रास्ता बाकी रहता है। हिंसात्मक प्रतिकार उसके लिए है नहीं। अहिंसात्मक तरीकों से वह चले। कष्ट आए, उन्हें झेले, उनके सामने घुटने न टेके, झुके नहीं। अन्याय को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्वों से सहयोग न करे। नम्रता को भी न छोड़े। तिरस्कार, उद्दण्डता, अवज्ञा—ये सब हिंसा हैं। अहिंसक किसी भी हालत में इन्हें नहीं चुन सकता। अहिंसा में दब्बूपन भी नहीं है, यह ध्यान रहे।

अहिंसक झंझटों में क्यों फँसे, क्यों बोले, सब कुछ सहना ही उसका धर्म है—यह समझना भारी भूल है। क्षमा का अर्थ है—अपनी वृत्तियाँ उत्तेजित न हों। अन्याय में सहयोगी बनें, यह क्षमा नहीं, कमजोरी है। क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है। वह कायरता का आवरण नहीं होना चाहिए।

अहिंसक के लिए अन्याय का प्रतिकार करने की बात दूसरी है। पहली बात है—वह स्वयं किसी के प्रति अन्याय न करे। जो दूसरों के प्रति अन्याय न करे, उसे ही अन्याय का प्रतिकार करने का हक है। इसलिए अहिंसक को चाहिए कि वह अपनी वृत्तियों को पूर्ण संयत करे। अन्याय का मतलब है—असंयम। असंयम व्यक्ति में रहे, वह भी बुरा है। अपना असंयम दूसरों पर प्रभाव डाले, यह तो और अधिक बुरा है। अहिंसा का मूल मंत्र है—संयम। भगवान् महावीर ने कहा है—"अहिंसक वह है जो हाथों का संयम करे, पैरों का संयम करे, वाणी का संयम करे और इन्द्रियों का संयम करे[1]।"

संयम ही अहिंसा है। वह आत्म-निष्ठा से फलित होती है, इसीलिए उसका सिद्धान्त अध्यात्मवाद कहलाता है।

अध्यात्म के विचार-बिन्दु

१—आकांक्षा का अभाव अध्यात्म है।

२—विकार का अभाव अध्यात्म है।

३—चारित्रिक कर्मण्यता अध्यात्म है।

४—अकर्मण्यता अलसता नहीं किन्तु निवृत्ति है। वह अध्यात्म है। एक शब्द में आत्मा का सहज रूप अध्यात्म है।

५—अध्यात्म का चरम या परम रूप है—अकर्मण्यता यानी दूसरे पदार्थ के सहयोग का अस्वीकार—सर्वथा आत्म-निर्भरता। यह मुक्त-स्थिति है। जीवन-काल में—कर्मण्यता में अकर्मण्यता का जो अंश है, वह अध्यात्म है अथवा कर्मण्यता में असत् कर्मण्यता का जो अभाव है, वह अध्यात्म है।

६—अध्यात्मवाद से आकांक्षा की तृप्ति नहीं, उसका अभाव हो सकता है।

७—अध्यात्मवाद से आवश्यकता की पूर्ति नहीं, उसकी पूर्ति के साधनों का विकार मिट सकता है।

८—अध्यात्म से पदार्थ की प्राप्ति नहीं, प्राप्त पदार्थ पर होने वाला ममकार या बन्धन छूट सकता है।

१—दशवैकालिक १०।१५

९—भौतिक प्राप्ति के लिए भौतिक साधन अपेक्षित होते हैं और आत्म-प्राप्ति के लिए आत्मिक साधन।

१०—भौतिकता से दूर रहने के लिए आत्मिक साधन उपयोगी हैं।

११—भौतिकता को सीमित करने के लिए आत्मिक साधन चाहिएं।

१२—भौतिक जीवन का स्तर ऊँचा होगा, आवश्यकताएं बढ़ेंगी, शान्ति कम होगी।

१३—आध्यात्मिक जीवन उठेगा, आवश्यकताएं कम होंगी, शान्ति बढ़ेगी।

१४—पदार्थ के अभाव में अशान्ति और भाव में शान्ति, ऐसी व्याप्ति नहीं बनती।

१५—मानसिक नियन्त्रण से मानसिक साम्य होता है और वही शान्ति है। मानसिक अनियन्त्रण से मानसिक वैषम्य बढ़ता है, वही अशान्ति है।

१६—जहाँ आकांक्षा है, वहाँ अशान्ति है और आकांक्षा नहीं, वहाँ शान्ति है।

१७—आवश्यकता है, वहाँ श्रम होगा, अशान्ति नहीं।

१८—आवश्यकता की पूर्ति सम्भव है, आकांक्षा की पूर्ति असम्भव।

१९—शोषण का मूल जीवन की आवश्यकताएं नहीं, मानसिक अतृप्ति है।

२०—अहिंसा का आधार कायरता नहीं; अभय, समता और संयम है।

२१—अपरिग्रही वह नहीं, जो दरिद्र है। अपरिग्रही वह है, जो त्यागी है।

२२—भोग समाज की संघातक या संघटक शक्ति है और त्याग-विघातक या विघटक शक्ति।

२३—भोग समाज की अपेक्षा है और त्याग उसकी अति का नियन्त्रण।

२४—भोग आत्मा का विकार है और त्याग आत्मा का स्वरूप।

२५—असंयम में बाह्य नियन्त्रण रहता है, इसलिए असंयमी दूसरों के सामने अन्याय करने में झिझकता है।

२६—संयम में अपना नियन्त्रण होता है, इसलिए संयमी एकान्त में भी अन्याय नहीं करता।

२७—मर्यादाहीन जीवन कहीं भी मान्य नहीं होता। स्व-मर्यादा नहीं

होती, वहाँ दूसरे मर्यादा करते हैं। अध्यात्मवाद स्वयं मर्यादा है। हीन भावना न आए, इसलिए अध्यात्मवादी मानता है—मैं स्वयं परमात्मा हूँ।

२८— गर्व न आए, इसलिए अध्यात्मवादी मानता है— सब जीव समान हैं, सब जीव एक हैं।

२६— परमात्मा बनने के लिए और मिथ्याभिमान से बचने के लिए अध्यात्मवाद का सूत्र है— संयम की साधना।

३०—अध्यात्मवादी वह होता है, जो दूसरों से न डरे, न दूसरों को डराए, न स्वयं दूसरे को ऊंच-नीच समझे और न दूसरों से स्वयं को ऊंच नीच समझे. सबके प्रति समभाव बरते।

निष्क्रिय अहिंसा का उपयोग

कई व्यक्ति निषेधात्मक अहिंसा को निछलों का हथियार बताते हैं। प्रवृत्तिशून्य जीवन उन्हें रुचता नहीं। सब कुछ करते हुए अहिंसा का पालन करना, यही उनके सिद्धान्त का सार है। यह सिद्धान्त न एकान्ततः सारहीन है और न एकान्ततः सारयुक्त। देह-दशा में पूर्ण निष्क्रियता हो नहीं सकती—यह वस्तु-स्थिति है। किन्तु इससे प्रवृत्ति मात्र में अहिंसात्मकता नहीं आती। असंयमांश मिट जाता है, वही प्रवृत्ति अहिंसात्मक होती है। इसलिए प्रवृत्ति को शुद्ध करने के लिए निवृत्ति आवश्यक है। दया का भाव आता है, तब हिंसा की निवृत्ति होती है। हिंसा की निवृत्ति होती है, तब दया का विकास होता है। मुनि पूर्ण दयालु होता है, इसलिए वह सभी जीवों का स्थायी-पूर्ण अहिंसक होता है। गृहस्थ की शक्यता अधूरी होती है। वह सब प्रवृत्तियों के असंयमांशों को छोड़ने में क्षम नहीं होता, इसलिए वह पूर्ण दयालु नहीं होता। पूर्ण दयालु नहीं होता, इसलिए वह पूर्ण अहिंसक नहीं होता[1]।

युद्ध की प्रवृत्ति हिंसा है किन्तु उसमें भी निरपराध को न मारने, निहत्थों पर प्रहार न करने की वृत्ति जो हो, वह अहिंसा है। व्यापार करना अहिंसा नहीं किन्तु व्यापार करने में झूठा तोल-माप व शोषण न करने और न ठगने

१—सुलूण अभयकरणं, परोवयारोवि नत्थि अण्णोत्ति···नय गिहिवासे अविमलं तं···। —पुष्पमाला १।२३

की वृत्ति अहिंसा है। सिद्धान्त की भाषा में यों कहा जा सकता है कि राग-द्वेष से जितना बचाव किया जाए, वही अहिंसा है। राग-द्वेष प्रवृत्ति है और उनसे बचाव करना निवृत्ति[१]। निवृत्ति का अर्थ केवल प्रवृत्ति का निषेध ही नहीं किन्तु प्रवृत्ति के रागांश या द्वेषांश का वर्जन भी है—इसीलिए निवृत्त्यात्मक अहिंसा को निठल्लों का हथियार नहीं कहा जा सकता। सक्रिय अहिंसा जीवन की कुछ एक घड़ियों में होती है। निष्क्रिय अहिंसा का उपयोग जीवन के प्रत्येक क्षण में किया जा सकता है, किन्तु उसका उपयोग वही कर सकता है, जो सच्चा वीर हो। प्रवृत्ति की अपेक्षा सत्प्रवृत्ति दुष्कर है, वैसे ही सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति दुष्कर है।

अहिंसा का समग्र रूप

'धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है[२]।' अहिंसा धर्म है। व्यवहार की भाषा में वह पवित्र आत्मा में उद्भूत होती है। निश्चय की भाषा में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही पवित्रता है और वही अहिंसा है। स्वाभाविकता का चरम रूप विदेह-दशा में प्रगट होता है। यह सिद्ध-दशा है। साधना-काल में स्वभावोन्मुख प्रवृत्ति होती है, वह अहिंसा है। उसका दूसरा नाम है—मोक्ष-मार्ग। मोक्ष के चार साधन हैं :—

१—ज्ञान
२—दर्शन (श्रद्धा)
३—चारित्र
४—तप

पदार्थों की जानकारी मात्र से न बन्धन होता है और न मुक्ति। ज्ञान सत्य का हो चाहे असत्य का, वह स्वभावतया निरवद्य होता है। मन, वाणी और कर्म के साथ संयुक्त होकर वह क्रियात्मक दृष्टि से सावद्य और निरवद्य दोनों बनता है। मोह रंजित मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान सावद्य होता है और मोह-विमुक्त मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान निरवद्य। वह क्रियात्मक निरवद्य ज्ञान आत्म-मुक्ति का साधन बनता है। अध्यात्म शास्त्र में

१—रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्याद्, निवृत्तिस्तन्निरोधनम्।—आत्मानुशासन २३७
२—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।—उत्तराध्ययन ३।१२।

इसी को सम्यग् ज्ञान कहा जाता है। सत्य की रुचि का नाम है—श्रद्धा। मिथ्या विश्वास हिंसा का ही रूप है। उससे आत्मा आवृत होती है।

(१) जातिवाद—जाति विशेष को अछूत समझना। उससे घृणा करना मानसिक व्यामोह है।

(२) पुत्र पैदा किये बिना स्वर्ग नहीं मिलता।

(३) युद्ध में मरने वाला स्वर्ग जाता है।

(४) सारी सृष्टि मनुष्य के भोग के लिए है, वह सर्वोत्तम प्राणी है, आदि-आदि मिथ्या विश्वास है। जातिवाद के आधार पर किसी प्राणी से घृणा करना मानसिक व्यामोह है।

अपुत्र की गति नहीं होती, 'युद्ध में मरने वाला स्वर्ग जाता है'—ये सामयिक अपेक्षाएं हो सकती हैं, अहिंसा-धर्म नहीं।

वैदिक विचार[1] से जैन विचार का यह मौलिक भेद है[2]। मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है—यह सही है। सर्वोत्तम के लिए अल्पोत्तम की उपेक्षा की जाए, यह गलत है; हिंसा की दृष्टि है।

"हिंसा का अनिरूद्ध स्रोत चलता है, उसका आधार यही है कि मनुष्य अपने आपको सबसे ऊँचा मानता है मनुष्य-हित के लिए सब कुछ किया जाना उचित है—इस मिथ्या धारणा के बल पर वैज्ञानिक प्रयोगों की वेदी पर लाखों-करोड़ों जीवों की बलि चढ़ती है। जीवन का अधिकार सबको है। सुख-दुःख की अनुभूति सबको है। जीवन प्रिय और मृत्यु अप्रिय सबको है। इसको भुलाकर मूक जीवों की निर्मम हत्या करने वाले एक महान् सत्य से आँखें मूंदते हैं। खाद्य और विलास के लिए भी बड़ी-बड़ी हिंसाएं चलती हैं। सारी सृष्टि मनुष्य के लिए ही है। यदि पशु न मारे जाएं तो वे मारे जमीन

१—(क) अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।

(ख) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्……।

२—(क) माया य पुत्ता न भवन्ति ताणं……।—उत्तराध्ययन १७

(ख) ……तत्थणं दससाहस्सीओ एगाए मच्छीए कुच्छिसि उववन्नाओ, एगे देवलोगेसु उववन्ने, एगे सुकुले पच्चायाए, अवसेसा ओसन्न नरगतिरिक्खजोणिएसु उववन्ना।—भगवती ७।९

पर छा जाए—ऐसी धारणाएं हैं। उन्हें उखाड़ फेंके बिना जीव दया का मूल्य नहीं बढ़ेगा[1]।"

चारित्र का अर्थ है—विरति या संयम। यह आत्म-शोधन की निरोधात्मक प्रक्रिया है। इससे पूर्व—मालिन्य का शोधन नहीं होता किन्तु भविष्य के मालिन्य का निरोध होता है। आत्मा नए सिरे से अशुद्ध नहीं बनती।

पूर्व-मल-शोधन की प्रक्रिया तप है। जितनी भी निवृत्ति-संचलित प्रवृत्ति है अथवा मन, वाणी और कर्म का जितना भी अहिंसात्मक व्यापार है, वह सब तपस्या है। ये चारों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) समुचित दशा में मुक्ति के साधन हैं अतः इन चारों की समष्टि ही अहिंसा का समग्र रूप है।

स्वास्थ्य-साधना

अहिंसक की वृत्तियां आवेग रहित होनी चाहिए। आवेग हैं :—

(१) क्रोध

(२) मान

(३) माया

(४) लोभ

(५) चुगली

(६) निंदा

(७) आरोपकरण

(८) घृणा-तिरस्कार

(९) कलह

(१०) पक्ष का आग्रह।

(११) भय।

शारीरिक वेग दूसरी कोटि के हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से शारीरिक वेग (मल मूत्र आदि का वेग) नहीं रोकना चाहिए। उनका वेग रोकने से स्वास्थ्य की हानी होती है। किन्तु इन मानसिक आवेगों को रोकने के बारे में आयुर्वेद और धर्म शास्त्र दोनों एक मत हैं।

१—आचार्य श्री तुलसी।

(१) अहिंसक को क्रूर नहीं होना चाहिए। क्रोध क्रूरता लाता है प्रेम का नाश करता है।

(२) अहिंसक नम्र होगा, उद्दंड नहीं। दूसरों को तुच्छ समझने की भावना हिंसा है। जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और तप—ये आठ मद हैं। अहिंसक को इनका अहंकार नहीं करना चाहिए। उद्दंडता से विनय नष्ट हो जाता है। उद्दंडता जैसे हिंसा है, वैसे गुलामी और हीन भावना भी हिंसा है। अहिंसा का मर्म मध्यस्थ वृत्ति या संयम है। सफलता में उत्कर्ष और असफलता में अपकर्ष—ये दोनों नहीं चाहिए। दोनों में सम रहना अहिंसा है। लाभ-अलाभ सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान में जो समवृत्ति होता है, वही अहिंसक है[1]।

अहिंसक में विवेक होता है, इसलिए वह लाभ और अलाभ को सम नहीं मानता। किन्तु उसमें आत्माभिमुखता होती है, इसलिए वह दोनों स्थितियों में अपनी वृत्तियों को सम रख सकता है। अहिंसा आत्म-निष्ठा की उपासना है। हीन भावना के त्याग के लिए आत्मा की उपासना परम तत्त्व के रूप में होती है—जो परम तत्व है वह मैं हूँ। अहंकार-त्याग के लिए उसकी उपासना समता के रूप में होती है—आत्मा मात्र समान है।

(३) अहिंसक को काय-ऋजु, भाषा-ऋजु, भाव-ऋजु होना चाहिए। उसके शरीर, वाणी और मन का व्यापार सरल होना चाहिए। वक्रता हिंसा है। माया भी हिंसा है। इससे मैत्री का नाश होता है।

(४) पदार्थों के लिए या उनके व्यवहार में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति या असंतोष हिंसा है। यह सद्गुणों का नाश करता है।

(५ ६) परोक्ष में बुराई करना चुगली और सामने बुराई करना निन्दा है। अहिंसक बुराई को मिटाना चाहता है, इसलिए वह दूसरों की बुराई कर नहीं सकता। बुराई का प्रकाशन करने से बुरा भला नहीं बनता। बुरे को सुधारने का उपाय है—उसके हृदय में बुराई के प्रति ग्लानि उत्पन्न कर देना।

१—लाभा लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥—उत्तराध्ययन १९-९१।

(७-८-९) दूसरों पर आरोप लगाना, लड़ना-झगड़ना, घृणा करना, ये सब मानसिक असंतोष के परिणाम हैं।

(१०) पक्ष का आग्रह मिथ्याभिमान का परिणाम है।

(११) भय हिंसा का कार्य और कारण दोनों है। भय से हिंसा वृत्ति उत्पन्न होती है और हिंसा से भय बढ़ता है। संस्कारी दशा में वृत्तियों की दशा बदलती है, उनका उन्मूलन नहीं होता।

ऊपर कहे हुए आवेगों के नियन्त्रण से निम्न वृत्तियां फलती हैं :—

(१) क्षमा या उपशम

(२) नम्रता या मृदुता

(३) ऋजुता

(४) अनाशक्त भाव या सन्तोष

(५) पर-गुण-ग्राहकता

(६) स्व-श्लाघा-वर्जन

(७) स्व-दोष-दर्शन

(८) प्रेम या मैत्री

(९) शांति

(१०) सत्य का आग्रह

(११) अभय

अथवा यूँ कहा जा सकता है कि ये वृत्तियाँ उनके नियन्त्रण के साधन हैं। बुराई से बुराई को मिटाने की बात हिंसा का सिद्धान्त है। जैसे आग से आग नहीं बुझती, वैसे ही क्रोध से क्रोध नहीं मिटता। क्रोध की विजय का उपाय है—अक्रोध या उपशम। अहिंसक को धीर, गम्भीर और शान्त होकर वेगात्मक वृत्तियों पर विजय पानी चाहिए। आवेग-मुक्ति, भय-मुक्ति, वासना-मुक्ति और व्यसन-मुक्ति होने से रोग-मुक्ति स्वयं हो जाती है। आवेग-विजय का अर्थ है—स्वास्थ्य, स्वस्थता, आत्म-स्थिति।

अहिंसा का विवेक

अहिंसा की साधना कठोर है, इसलिए उसके साधक को कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने कहा—"दैहिक कष्टों को सहन-

शीलतापूर्वक सहने से महान् फल होता है[1] ।" इसका यह अर्थ नहीं कि कष्ट ही कष्ट सहते रहना चाहिए। अहिंसा का सिद्धान्त है—हिंसा पर विजय पाने के लिए जितना कष्ट सहना पड़े, वह सब सहा जाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर तपस्या का विकास हुआ। इन्द्रिय और मन को जीते बिना अहिंसा जीवन में नहीं आ सकती। इनकी विजय के लिए बाह्य वस्तुओं—विषयों का त्याग आवश्यक है। वही तपस्या है। उससे बाह्य वस्तुओं का सम्बन्ध छूट जाता है; फिर भी उनकी वासनायें शेष रह जाती हैं। उन्हें निर्मूल करने के लिए ध्यान है। वह भी तपस्या है। पहली बाह्य तपस्या है और दूसरी अन्तरंग। एक से बाह्य शुद्धि होती है और दूसरी से अन्तरंग-शुद्धि।

वस्तु-त्याग के रूप हैं :—

१—अनशन :—खान-पान का त्याग, एक दिन के लिए या उससे अधिक।

२—ऊनोदरिका :—

(१) खान-पान में कमी, भूख से कम खाना, कम चीजें खाना आदि।

(२) क्रोध आदि की कमी करना।

३—वृत्ति-संक्षेप—जीवन-निर्वाह के साधनों का संक्षेपीकरण।

४—रस-परित्याग—सुस्वादु व गरिष्ठ भोजन का त्याग या सीमाकरण।

५—काय-क्लेश—शारीरिक सुख-सुविधा का त्याग, ध्यान व आसन।

६—प्रति संलीनता :—

१—इन्द्रियों के विषयों का त्याग।

२—क्रोध आदि का त्याग—अनुचित क्रोध का त्याग और उदित क्रोध का विफलीकरण।

३—अकुशल मन, वाणी और कर्म का निरोध, कुशल मन, वाणी और कर्म की उदीरणा।

१—देहे दुक्खं महाफलं—दशवैकालिक ८

४—विकारहेतुक मकान और आसन का त्याग।

जीवन के अन्तर-शोधन की प्रक्रिया के तत्त्व ये हैं :—

१—प्रायश्चित्त—किए हुए पापों की आलोचना।

२—विनय—मन, वाणी और कर्म की नम्रता।

३—वैयावृत्त्य (सेवा)—अपनी शक्तियों का दूसरे के निश्रेयस के लिए व्यापार।

४—स्वाध्याय—मुक्तिकरी विद्या का अध्ययन, मनन, चिन्तन।

५—ध्यान—मन की वृत्तियों का स्थिरीकरण।

६—व्युत्सर्ग—शरीर का स्थिरीकरण या शरीर और चेतन के भेद का ज्ञान।

वस्तुओं का त्याग व्यावहारिक या स्थूल होता है, वासनाओं का त्याग आन्तरिक या सूक्ष्म। आन्तरिक शोधन के लिए विकार के बाहरी साधनों का वर्जन आवश्यक है। यह साध्य की सिद्धि नहीं है। उसकी सिद्धि, आन्तरिक वासनाएं जो गहरी जड़ें जमाए हुए हैं, उनके निर्मूलन से होती है।

खाद्य-विवेक

खान-पान के बिना जीवन नहीं टिकता, इसलिए वह जीवन की मुख्य प्रवृत्ति है और वह हिंसक तथा अहिंसक दोनों के लिए समान है—समान, जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से, फल की दृष्टि से नहीं। अहिंसा की साधना देह-मुक्ति की साधना है, इसलिए उसमें मुख्य बात देह-पोषण की नहीं होती। 'अहिंसा अखण्ड रहे, देह भले छूट जाए'—अहिंसक ऐसा व्रत किए चलता है। अहिंसा में आपद्-धर्म का कोई स्थान नहीं है। देह को टिकाए रखने की भावना मुख्य बनते ही अहिंसा गौण हो जाती है।

जीवन टिका न रहे तो अहिंसा की साधना कैसे हो? कौन करे? इसलिए अहिंसा की साधना करने के लिए जीवन को बनाये रखना आवश्यक है। जीवन को बनाए रखने का मुख्य साधन खान-पान है। इस दशा में खान-पान की हिंसा अहिंसा का ही एक अंग बन जाती है—इस कोटि का चिन्तन भी प्रस्तुत किया जाता है किन्तु यह अहिंसा की मर्यादा के प्रतिकूल है। भविष्य की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अपना रूप नहीं त्यागती—

अहिंसा के लिए की जाने वाली हिंसा अहिंसा नहीं बनती। 'मुनि अपने जीवन की सब प्रवृत्तियों में अहिंसा का विचार लिए चलता है। वह खान-पान के लिए भी हिंसा नहीं करता'[1]। अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेता। उसकी भिक्षा नव-कोटि-परिशुद्ध होती है[2]।

गृहस्थ के लिए इतना कठोर व्रत सम्भव नहीं। उसकी भूमिका भिक्षा-वृत्ति की नहीं होती। भिक्षा तीन प्रकार की होती हैं :—

१—पौरुषघ्नी

२—वृत्तिघ्नी

३—सर्व सम्पत्करी[3]

कार्य करने में समर्थ गृहस्थ भीख मांगता है—वह 'पौरुषघ्नी भिक्षा' है। यह समाज की निम्न-दशा का चिह्न है। अपंग व्यक्ति भीख मांगते हैं वह 'वृत्तिघ्नी भिक्षा' है। यह समाज व्यवस्था का दोष है। 'सर्व संपत्करी भिक्षा' मुनि की होती है। वह न आलसी बनकर भीख माँगता है और न हीन बन कर। वह भिक्षा को कष्ट मानकर उसे सहता है। दूसरों के सामने हाथ पसारना कठोर मार्ग है, फिर भी मुनि के लिए इसके सिवाय जीवन-निर्वाह का दूसरा कोई विकल्प नहीं होता। इसलिए उसे भिक्षा मांगनी होती है। गृहस्थ पूर्ण अहिंसा की भूमिका में नहीं होता, इसलिए उसे खान-पान के लिए भी हिंसा करनी पड़ती है। किन्तु जिसकी गति अहिंसा की ओर हो उसमें खाद्य-विवेक अवश्य होना चाहिए।

अहिंसाव्रती को वैसी वस्तुएं नहीं खानी चाहिए, जिनसे आवश्यकता-पूर्ति

१—वहणं तसथावराणं होइ, पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं।

तम्हा उद्देसियं न भुंजे, नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू॥

—दशवैकालिक १०।४

२—समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे प० तं०—न हणइ, न हणावइ, हणंतं णाणुजाणइ। न पयइ, न पयावेइ, पयंतं णाणुजाणइ। ण किणइ, ण किणावेइ, किणंतं णाणुजाणइ।— स्थानांग ९-६८१

३—स्थानांग ३

कम हो और हिंसा अधिक। उसे स्वाद के लिए कुछ भी नहीं खाना चाहिए। और मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए।

मांस-त्याग का आधार यही (खाद्य-विवेक) है। मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। उसे खाने के पीछे स्वाद-वृत्ति, पौष्टिकता आदि भावनाएं होती हैं। मादकता, उत्तेजकता आदि उसके कुपरिणाम हैं। उससे वृत्तियों की तामसिकता बढ़ती है। मांस-भोजन के लिए बड़े जीवों की ही नहीं, उनके अतिरिक्त असंख्य छोटे जीवों की भी हिंसा होती है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलकर मांसाहार त्याग के निमित्त बनते हैं। कोमल वृत्ति का जागरण होने पर व्यक्ति का विवेक किस प्रकार जाग उठता है वह निम्न घटना में पढ़िए—

जब बीमार पड़े हुए बर्नाड शा से डॉक्टरों ने कहा कि "यदि आप गाय का मांस नहीं खाते तो मर जाएंगे। तब बुद्धिमान् शा ने 'लन्दन डेली क्रोनिकल' नामक दैनिक पत्र में इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किए :—

"मेरी स्थिति बड़ी गम्भीर है। मुझे जीवन-दान इस शर्त पर दिया जा रहा है कि मैं गाय या बछड़े का मांस खाऊँ। परन्तु मेरी श्रद्धा है कि प्राणी मात्र का शव भक्षण करने की अपेक्षा मृत्यु कहीं अधिक अच्छी है। मेरे जीवन की अन्तिम आकांक्षा मेरी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए मार्ग दर्शन करती है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् भेड़ें, दूध देने वाले पशु तथा छोटी-छोटी मछलियाँ आदि सभी जीव मेरी मृत्यु का शोक न मनाकर अपने गलों पर शुभ्र वस्त्र बाँधकर ऐसे व्यक्ति के सम्मान में प्रसन्नतापूर्वक समारोह मनाएं, जिसने जीव-जन्तुओं का मांस खाने के स्थान पर मर जाना अधिक अच्छा समझा। मेरी अन्तिम यात्रा 'नोहा अर्क' के अपवाद को छोड़कर सबसे निराली घटना होगी[1]।"

अन्तर्मुखी दृष्टि

अहिंसक की दृष्टि अन्तर्मुखी होनी चाहिए। बहिर्मुखी दृष्टि वाला व्यक्ति बुराई करते समय 'कोई देख न ले' इसका बचाव करता है, अपना

1—जै॰ युग वर्ष ५ अंक ५ ता॰ ७।१।५४

बचाव नहीं करता। इससे बुराई गूढ़ बन जाती है। प्रगट रोग से छिपा रोग और अधिक जटिल होता है। दृष्टि अन्तर्मुखी होने पर व्यक्ति का सहज प्रयत्न बुराई से बचने का होता है, फिर चाहे कोई देखे या न देखे। दिन और रात, एकान्त और सहवास, शयन और जागरण में जिसका हिंसा से बचने का समान प्रयत्न हो, थोड़ा भी अन्तर न आए, वही व्यक्ति अहिंसक या अन्तर्मुखी दृष्टि वाला है[1]। बुराई में जिसको अपना अनिष्ट दीख पड़े, वही व्यक्ति बुराई को छोड़ सकता है। लज्जा, भय या अनुशासन के द्वारा बुराई गूढ़ बन जाती है, मिटती नहीं। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—"मारने वाले को जीव हिंसा में अपना अनिष्ट दीख जाए, तभी वह उसे छोड़ सकता है, नहीं तो नहीं।" आत्मानुशासन का स्रोत अन्तर्मुखी दृष्टि ही है। अपने पर अपना अनुशासन-आत्मानुशासन। इसका जागरण होने पर अहिंसा का विकास हो जाता है।

विकार-परिहार की साधना

विकार-विजय का अर्थ है—आत्म-विजय। विकार व्यक्ति हेतुक भी होते हैं और समाजहेतुक भी। हिंसा और परिग्रह, वासना और भूख प्यास—ये वैयक्तिक विकार हैं। असत्य और चोरी सामाजिक विकार हैं। अकेलेपन में भी व्यक्ति छोटे-बड़े जीवों की हिंसा करता है, पदार्थ का संग्रह करता है। असत्य और चोरी, ये अकेलेपन में नहीं होते। इसलिए ये दोनों सामाजिक जीवन के सहचारी हैं—ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। वासना और भूख-प्यास जैसे देह-सम्बद्ध हैं, वैसे असत्य और चोरी देह सम्बद्ध नहीं हैं। वे जैसे व्यक्ति को सताते हैं वैसे असत्य और चोरी, ये नहीं सताते। ये देह की अपेक्षाएं नहीं हैं, सहवास की स्थिति में उत्पन्न मानसिक विकृत्तियां हैं। भूख और प्यास विकार हैं पर वासना की कोटि के नहीं।

वासना के पीछे मोह का जो तीव्र वेग होता है, वह भूख-प्यास की अभिलाषा के पीछे नहीं होता। विषय का स्मरण, चिन्तन, इच्छा, स्नेह और भोग—ये वासना के स्थिरीकरण के हेतु हैं। पदार्थ और शरीर—ये दो वासना

१—दिआ वा, राओवा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरणे वा....

—दशवैकालिक ४

के क्षेत्र हैं। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द हैं। मन का प्रधान विषय संकल्प है। इसीलिए कहा गया है—"काम ! मैं तुझे जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तो तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा।। इसलिए तू मुझमें उत्पन्न नहीं होगा[1]।

पदार्थ में आकर्षण होता है—स्पर्श की कोमलता, रस का माधुर्य, गन्ध की मादकता, रूप की मोहकता, शब्द की प्रियता होती है। इन्द्रियां इन्हें मन तक पहुँचाती हैं और वह इन्हें पाने के लिए अधीर हो उठता और देह को भी अधीर बना देता है।

व्यक्ति में पदार्थ से अधिक आकर्षण होता है। व्यक्ति के शरीर को चैतन्य की विशेषता प्राप्त होती है, इसलिए उसमें दूसरों को आकृष्ट करने की इच्छा, भावाभिव्यंजना और भाषा—ये विशेष गुण होते हैं। इनमें पदार्थ की अपेक्षा अधिक मोहकता और मादकता होती है। अहिंसक की दुनियाँ कोई दूसरी नहीं होती। वह इसी दुनियाँ में पदार्थ और प्राणी के आकर्षणों के बीच रहता है। वह खाता पीता है। उसे रूप दिखाई देते हैं। शब्द भी सुनता है। विषय से बचना एकान्ततः आवश्यक नहीं। एकान्तिक आवश्यक है—विकार से बचना। रूप को जानना चक्षु-इन्द्रिय का विषय है। वह न अच्छा है और न बुरा। रूप में आशक्ति आती है, तब वह विषय नहीं रहता, विकार बन जाता है। विकार हिंसा है। मन निर्विकार बने बिना अहिंसा नहीं आती। अतएव अहिंसक के लिए विकार परिहार की .साधना आवश्यक होती है। पदार्थ और प्राणी दोनों के प्रति विकार पैदा होता है पर वे उसके मूल स्रोत नहीं हैं। अपना शरीर विकार की अभिव्यक्तियों की प्रयोग-शाला है फिर भी विकार का मूल स्रोत नहीं है। आत्मा भी स्वभाव से विकारी नहीं है। विकार का मूल स्रोत है—मोह। वह आत्मा की अशुद्ध-दशा में उस पर छाया रहता है। मोह की परम्परा आगे बढ़ती चलती है। मोह-मुग्ध व्यक्ति अपनी देह को ही आत्मा मानने लगता है। इससे उसमें देहाशक्ति उत्पन्न होती है। स्व-देहासक्ति प्रबल होने पर पर-देहासक्ति और उसके बाद पदार्था-

१—काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
नाहं संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥

सक्ति बनती है। यह विकार—विकास का क्रम है। विकार-परिहार का क्रम है :—

१—विवेक-दर्शन।

२—आत्म-दर्शन।

३—बहिर्व्यापार-वर्जन।

विवेक दर्शन

चेतन और देह के भेद का ज्ञान—मैं चेतन हूँ, मेरा शरीर अचेतन है। मैं अविनाशी हूँ, यह नश्वर है। मैं पुनर्भवी हूँ, यह एकभवी है। इसलिए हम दोनों दो हैं। इस विवेक-दर्शन से स्व-देहासक्ति का विलय होता है।

आत्म-दर्शन

आत्म-दर्शन का अर्थ है, दूसरों में अपने जैसी आत्मा का साक्षात्कार करना। इससे प्रेम पवित्र बन जाता है। शरीर सम्बन्धी प्रेम विकारी होता है। सही अर्थ में वह प्रेम होता ही नहीं। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ प्रेम में शारीरिक बँधता है। वहाँ प्रेम का आधार है—शरीर का आकर्षण। कल मानो छूत की बीमारी हो गई तब प्रेम टूट जाता है। पवित्र और विराट् प्रेम का आधार होता है—आत्म-दर्शन। इसके साथ जो प्रेम आता है, उसमें बीमारी और बुढ़ापा—ये बाधक नहीं बनते। जिसमें आत्म-दर्शन की शक्ति प्रबल हो जाती है, वह विकारी प्रेम में नहीं फँसता।

बहिर्व्यापार वर्जन

इन्द्रिय और मन का व्यापार अन्तर्मुखी होता है पदार्थों का अनावश्यक चिन्तन, दर्शन और ध्यान नहीं होता, तब पदार्थासक्ति छूट जाती है।

अहिंसक के लिए इन तीनों की आराधना आवश्यक है। ऐसा किए बिना विकारों का परिहार नहीं होता। अहिंसा का अर्थ है—निर्विकार-दशा।

ग्यारहवां अध्याय

हृदय-परिवर्तन की समस्या

मानव विविध-जातीय संस्कारों का संग्रहालय है। भलाई और बुराई—दोनों के बीज उसमें अंकुरित होते हैं। परिस्थितियाँ निमित्त मात्र हैं। उनका सहयोग पा बीज अंकुरित हो जाता है। बीज न हो तो वे किसे अंकुरित करें। परिस्थितियों की अपेक्षा व्यक्ति अधिक बलवान् होता है। वह उनसे अप्रभावित रह सकता है। यह भी सच है, उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आज का युग नाना वादों का केन्द्र बन रहा है। कोई युग धार्मिक मत-वादों का था। आज प्रत्येक समस्या को राजनैतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। राजनीति की धुरी अर्थ-तन्त्र है। इसलिए आज का युग राजनीतिक वाद या अर्थवाद का अखाड़ा बन रहा है। विचारों और वादों का इतना संघर्षण है कि उनकी चिनगारियां अग्नि को शान्त नहीं होने देतीं। अपने आपको भुलाकर दूसरों को जगाने की वृत्ति जो आज है, वह पहले कभी इतनी उग्र हुई, ऐसा नहीं मिलता। विश्व-शान्ति की माँग भी आज अभूतपूर्व है।

विज्ञान का युग है। प्रत्येक तथ्य कसौटी पर कसा जाता है। श्रद्धा को स्थान नहीं रहा। पुरुषार्थ की गाथाएं गाई जाती हैं किन्तु सिद्धान्त के रूप में। कार्य रूप में पहला स्थान परिस्थितियों को मिल रहा है। 'परिस्थितियां ऐसी हैं, हम क्या करें?'—यह उत्तर आप बिना किसी कठिनाई के सुन सकते हैं। आश्चर्य की बात यह है—व्यक्ति अच्छे या बुरे कार्य करता है। उनके अच्छे या बुरे परिणाम होते हैं। अच्छे कार्यों और उनके अच्छे परिणामों का दायित्व वह स्वयं लेना चाहता है, बुरे कार्यों और उनके बुरे परिणामों का दायित्व वह दूसरों पर डाल देता है। और कोई न मिले तो परिस्थितियां तो हैं ही। वे कभी इस प्रवृत्ति का विरोध तक नहीं करतीं। यह क्या है परिस्थितिवाद या पुरुषार्थवाद? यह सही है—परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्रभावित करती हैं किन्तु तभी जब उपादान शक्तिहीन होता है। समर्थ व्यक्ति परिस्थितियों का दास बनकर कभी नहीं चलता। अनुकूल और प्रतिकूल

परिस्थितियां न्यूनाधिक मात्रा में सदा सब जगह और सबके जीवन में रहती हैं। उनसे भय खाने वाले लड़खड़ा जाते हैं और उनसे लड़ने वाले विजयी बन जाते हैं। लड़ने की दो पद्धतियां हैं—एक लम्बा-चौड़ा मार्ग और एक संकरी पगडंडी। पहला मार्ग बल प्रयोग का है। इसमें बुराई न मिटने की स्थिति में बुरे को मिटाने की क्षमता है। दूसरी जो पगडंडी है, वह इसलिए संकरी है कि उसमें बुरे को मिटाने की कल्पना तक नहीं होती।

व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं होती हैं—काम-वासना, क्रोध, लालच, आरामतलबी आदि-आदि। इन पर जो नियंत्रण पा जाता है, उसे परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। पर वे उसे दबा नहीं सकतीं। जो अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं पर नियंत्रण करना नहीं जानता या नहीं चाहता, उसे परिस्थितियां निगल जाती हैं। परिस्थितिवाद निराशावाद है। इसकी परम्परा निरन्तर चलती है। पुराने लोग कर्मवाद या भाग्यवाद की ओट में अपनी कमजोरियों को पालते थे। आज उनका लालन-पालन परिस्थितिवाद के सहारे हो रहा है। यह सच है—कर्म, भाग्य परिस्थिति का अपना-अपना स्थान है किन्तु व्यक्ति उनसे घबड़ा कर अपना पुरुषार्थ खो बैठे—यह अस्थानीय है। सार यही है कि सब बुराइयों की जड़ व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं हैं। परिथितियां उनको पोषण देती हैं, उन्हें मूर्त बनाती हैं। क्रोध व्यक्ति की दुर्बलता है किन्तु उसे उभारने वाली स्थिति बने बिना वह मूर्त नहीं बनता। गाली सुनते ही वह भभक उठता है। परिस्थिति ने इतना किया कि छिपी हुई बुराई को उभाड़ दिया। बुराई को नए सिरे से उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं होती।

मूल में भूल है। युग का प्रमुख विचार बन रहा है—परिस्थितियों को सुधारो, तात्पर्य कि बुराई की शाखा को मिटा दो। होना यह चाहिए कि बुराई के मूल को सुधारो। मूल सुधारे बिना शाखाएं बनती-बिगड़ती रहेंगी, अर्थ कुछ नहीं होगा। परिस्थतियां परिवर्तित होती रहती हैं। एक परिस्थिति में सुधार आता है और उससे पोषण पाने वाली बुराई छिप जाती है। दूसरी परिस्थिति बनती है और दूसरे प्रकार की बुराई साकार बनने लग जाती है। उदाहरण से समझिए—एक युवक अविवाहित दशा में अप्राकृतिक मैथुन का व्यसनी बन जाता है। विवाह होता है, स्थिति बदल जाती है; अप्राकृतिक

क्रिया छूट जाती है। अब नई स्थिति उसे नई बुराई का शिकार बना डालती है। गृह की चिन्ता से वह व्यापारी बनता है और पत्नी को सन्तुष्ट रखने की चिन्ता से शोषक। अच्छे कपड़े चाहिए, गहने चाहिए, सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री चाहिए, साज-सज्जा की वस्तुएं चाहिए, वह सब कुछ चाहिए जो दूसरों को सुलभ है। शोषण के बिना यह सब आए कहाँ से? न्याय का दरवाजा इतना बड़ा नहीं है।। आखिर यह सब अन्याय के द्वारा आता है। धन का संग्रह बढ़ता है। सुविधाएं बढ़ती हैं। ऐश्वर्य और यश भी बढ़ते हैं। स्थिति का चक्का घूमता है और उसपर विलास छा जाता है। अब न व्यापार की चिन्ता रहती है और न किसी दूसरी वस्तु की। वह बढ़ता है और इतना बढ़ता है कि आखिर सारी पूंजी को चट कर जाता है।

यही गति समस्याओं और उनके समाधान की है। एक परिस्थिति में रोटी की समस्या है। दूसरी स्थिति में उसका समाधान मिलता है किन्तु वैयक्तिक स्वातन्त्र्य सीमा से अधिक बंध जाता है। नई स्थिति नई समस्या को जन्म न दे, यह लगभग असम्भव सा है। इसीलिए यह मानना होगा कि परिस्थिति का परिवर्तन नई परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है किन्तु व्यक्ति को परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नहीं कर सकता। व्रत की परम्परा या हृदय-परिवर्तन में परिस्थिति-परिवर्तन से पहले उससे अप्रभावित रहने की बात मुख्य है। आन्तरिक दुर्बलता मिटने पर बुरी परिस्थिति व्यक्ति की कसौटी भर बन सकती है, राक्षसी बन उसे डकार नहीं सकती।

समस्याएं कई दैहिक होती हैं और कई मानसिक। कई बाहरी (पर-कृत) होती हैं और कई आन्तरिक (स्व-कृत)। कई सामूहिक होती हैं और कई वैयक्तिक। दैहिक, बाहरी और सामूहिक समस्याओं को प्राथमिकता मिलती हैं। दैहिक समस्याएं न सुलझें तो देह टिके कैसे? बाहरी समस्याएं सहज बुद्धिगम्य हो जाती हैं—उनकी बुराई समझने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं होती। सामूहिक समस्याएं विस्फोट कर सकती हैं। यही कारण है, मनुष्य की सारी चेष्टाएं इनके समाधान की ओर मुंह किए चल रही हैं।

(१) रोटी की समस्या, कपड़े और मकान की समस्या—ये एक कोटि

की समस्याएं हैं। दूसरी कोटि की समस्याएं हैं—सौन्दर्य और विलास के साधनों की दुर्लभता।

(२) पड़ोसी स्वभाव का चिड़चिड़ा है। वह बिना मतलब बकवास करता है, कलह करता है, शान्ति से नहीं रहने देता। पति कुछ ही चाहता है और पत्नी कुछ ही। पिता-पुत्र के विचार मेल नहीं खाते। भाई-भाई की रुचि भिन्न है। ऐसी-ऐसी असंख्य उलझनें बाहर से आती हैं।

(३) सामाजिक समस्याओं से भी कौन कैसे बच सकता है? एक व्यक्ति दहेज देना नहीं चाहता किन्तु वह (दहेज) दिए बिना बेटी की गति नहीं। जहाँ कन्याओं की सुलभता है, वहाँ वे बिकती हैं और जहाँ कुमार सुलभ हैं, वहाँ वे बिकते हैं। कोई इन्हें बेचना न चाहे तो उनके कुमार भाव को वरदान मान बैठा रहे। रिश्वत देने की इच्छा नहीं। अनिच्छा का कारण रुपये जाते हैं, यह भी नहीं। उसका मूल हेतु है—अनीति न बढ़े। किन्तु वह दिए बिना सत्य भी बदल जाता है। टिकट नहीं मिलती। लायसेन्स नहीं मिलते। बड़ों से मुलाकात नहीं हो सकती। सार्वजनिक हॉस्पिटल में भी रोगी को सही चिकित्सा की गारण्टी नहीं मिलती।

ये सभी अखरते हैं—एक को, दो को और बहुतों को। इसीलिए इन्हें सुलझाने के लिए समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्र आदि-आदि शासन-पद्धतियां, नागरिक सभ्यता और सामाजिक सुधार के कार्यक्रम चलते हैं। किन्तु मानसिक, आन्तरिक और वैयक्तिक समस्याओं की उपेक्षा हो रही है। ध्यान देना होगा; कहीं सारी समस्याओं का मूल यही तो नहीं है? दैहिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं, फिर भी उत्तरोत्तर अतृप्ति बढ़ती है। अमुक रोग या अमुक स्थिति में अमुक पदार्थ खाना हितकर नहीं किन्तु वह स्वादिष्ट है, इसलिए खा लिया जाता है। अधिक अब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक शक्तियां क्षीण होती हैं किन्तु संयम नहीं रहता। अनावश्यक संग्रह से चिन्ता, भय और प्रतिशोध बढ़ते हैं किन्तु उसके बिना मानसिक सन्तुष्टि नहीं होती।

बाहरी और सामूहिक समस्याएं परिवर्तित होने पर क्या व्यक्ति आनन्द से भर जाता है? ऐसा नहीं होता। महत्त्वाकांक्षा केवल उन्नति की आकांक्षा

नहीं किन्तु सर्वोच्च बनने के लिए दूसरों को गिराने की प्रवृत्ति, यशोलालसा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि-आदि ऐसी वृत्तियां हैं; जो व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को कुरेदती रहती हैं।

सर्व सुविधा-सम्पन्न राष्ट्र के नागरिक, जिन्हें जीवन की अनिवार्यताएँ नहीं सताती, क्या इन वृत्तियों से मुक्त हैं? पर्याप्त सुविधाएं मिलने पर भी उनमें संयम की चेतना न जागे तो शान्ति नहीं आती। दो व्यक्ति हैं। एक प्रेम करना चाहता है, दूसरा नहीं चाहता। चाह पूरी नहीं होती, मन अशान्ति से भर जाता है। चाह या अपेक्षाएं अनेक होती हैं। जिनसे जो अपेक्षाएं हैं, वे उन्हें सफल नहीं बनाते, अपेक्षा रखने वाला खाक हो जाता है। सम्पन्न व्यक्तियों के जीवन में भी उलझनें आती हैं। कई चिन्ता में माथा होम डालते हैं। कई आत्म-हत्या से भी नहीं चूकते। तात्पर्य में मत भूलिए—सुविधाओं से जीवन सरस बन जाता है, यह मनुष्य के सिर में सींग होने की बात से कम मिथ्या नहीं है।

मोटर का ड्राइवर चाहता है—मैं सेठ जैसा धनी बनूं। सेठ मन ही मन प्रार्थना करता है—मुझे ड्राइवर जैसी निश्चिन्त नींद आए। ड्राइवर शान्ति के मूल्य पर सुविधाएं चाहता है। यह सच है, सुविधा का स्वाद चखे बिना शान्ति का मूल्य समझ में नहीं आता। अभाव में प्रत्येक वस्तु मूल्यवान् बन जाती है। शान्ति की खोज सुविधाओं के अभाव से नहीं निकलती। वह अनेक अतिरेक से उत्पन्न होती है। इतिहास देखिए—बड़े-बड़े धनपति सुविधाओं का भोग करते-करते थक गए, तृप्ति नहीं मिली। उस अतृप्ति ने उन्हें तृप्ति-मार्ग ढूंढ़ने को प्रेरित किया और वे सुविधाओं को ठुकरा कर कठोर पथ की ओर चल पड़े। त्याग की अकिंचनता ने उन्हें तृप्त बना दिया।

पदार्थ का अभाव सताता है, उसका भाव असन्तोष पैदा करता है। संयम स्वस्थ बनाता है। एक व्यक्ति मोटर दौड़ाए जाता है। गरीब को ईर्ष्या हो आती है। उसे पैदल चलने में दीनता जान पड़ती है। वह एक बारगी तड़क उठता है—मोटर के लिए। एक संयमी ने भी उसे देखा किन्तु स्पर्धा नहीं जगी। उसने पाद-विहार का मत वाहन-यात्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण मान स्वीकार किया है। तात्पर्य की भाषा में पढ़िए—तृप्ति अभाव में भी नहीं है,

भाव में भी नहीं है, यह उनसे परे है। यह जो परे की वृत्ति है, वही हृदय-परिवर्तन है। समस्या यह है-- गरीबों की धन में निष्ठा है। वे सुविधाओं को ही सर्वस्व मान बैठे हैं। धन से परे भी सुख-शान्ति है—यह भी उनकी समझ से परे है। दूसरी ओर धनपति पूंजी के दलदल में फंसे हुए हैं। उनकी शांति की चाह सुविधा के व्यामोह को चीरकर आगे नहीं बढ़ पाती। धोबी का कुत्ता भूख के मारे ढाँचा भर रह गया। मित्र कुत्तों ने उस घर को छोड़ स्वतन्त्र घूमने की सलाह दी। वह भी इसे महसूस करता था किन्तु वैसा हो नहीं सका। कुत्ते का नाम था 'सताबा'। धोबी की दोनों पत्नियाँ लड़तीं, तब एक दूसरे को 'सताबे की बेर' कहकर पुकारतीं। गाली गलौज में उनके पति होने का मोह वह नहीं छोड़ सकता। भूख ने उसके प्राण ले लिए।

चारों ओर ऐसा ही व्यामोह छा रहा है। जीवन के मूल्य स्वयं अनीति के पोषक बन रहे हैं। इस स्थिति में हृदय-परिवर्तन का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। इसे जटिल बनाने वाला दूसरा एक कारण और भी है। धनपतियों के शोषण ने गरीबों के दिल में एक प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर दी। अब वे केवल धनपतियों के ही विरोधी नहीं किन्तु उनकी दार्शनिक मान्यताओं के भी विरोधी बन गए। धनपति अध्यात्म और सन्तोष की बातें करते हैं, उन्हें वह ढकोसला लगता है। धर्म को भी वे शोषण का आलम्बन मान बैठे हैं। उनके मानने के पीछे एक तथ्य भी है। शोषण के द्वारा धन-संग्रह करते हैं, पीछे शुद्धि की भावना से थोड़ा धन खर्च कर वे धर्म-वीर बन जाते हैं। धर्म-आराधना की यह सीधी क्रिया उन्हें शोषण से दूर होने का अवसर ही नहीं देती।

आज के विश्व-मानस का अध्ययन कीजिए, आपको लगेगा, राजनीतिक वाद जनता के मन पर छा गए। आत्मा, धर्म, ईश्वर, परलोक, सद्‌गति और पारमार्थिक शान्ति की चर्चा नहीं भाती। चरम लक्ष्य हो रहा है—इसी जीवन की अधिकतम उन्नति। हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें है जो आत्म-शान्ति में विश्वास रखते हैं, हिंसा को यहाँ और आगे अशान्ति बढ़ाने वाली मानते हैं। जिन्हें आगामी जीवन से कोई लगाव नहीं, चालू जीवन में हिंसा द्वारा सुविधाएं सुलभ होती हैं, तब उन्हें हृदय-परिवर्तन की बात कैसे रुचे?

भौतिक सुख-सुविधाएं ही जिनका चरम साध्य है, वे अहिंसा को कहीं महत्त्व दें। यह धूप जैसा साफ है, अधिक चोरबाजार करने वाले अधिक बड़े बने। भलाई को लिए बैठे रहे, वे मुंह ताकते रह गए। दुनिया धन से बिक चुकी। चोरबाजार करने वाले बड़े हैं। भलों को पूछे कौन? उनके पास वैसा कुछ है भी नहीं। वे न किसी को नौकरी दे सकते, न रिश्वत, न सहायता, न चन्दा, न प्रीति-भोज और न और-और। कहिए, दूसरे भले क्यों बनें? आखिर उन्हें भला बनने से क्या लाभ? भलाई के साथ सहानुभूति है? पुराने संस्कार शब्दों में उतर आते होंगे, आचरण में तो नहीं हैं। भलाई को प्रोत्साहन कैसे मिले? जो दुनियावी बातों से लगाव रखते हैं; एषणाओं में रस लेते हैं; यश, प्रतिष्ठा, संतान और सुविधाएं चाहते हैं; वे भले नहीं बन सकते। भले आदमी उस दुनिया के प्राणी हो सकते हैं; जिन्हें इन बातों से कोई लगाव नहीं। पदार्थ की, मान-सम्मान की, बड़प्पन की निरपेक्षा विरक्ति से आती है। विरक्ति मोह के न्यून होने से आती है और मोह की न्यूनता, आत्मा और पुद्गल (चेतन और अचेतन) का भेद जानने से होती है। हृदय-परिवर्तन का असली रूप यही निरपेक्षता है। सामाजिक जीवन रहा सापेक्ष। निरपेक्षता है—वैयक्तिक जीवन की स्थिति। एक सामाजिक व्यक्ति उसे कैसे स्वीकार कर ले? इस बिन्दु पर विचार रुक जाता है। वर्तमान समस्याओं का मूल यही लगता है।

सापेक्षता के एकांगी स्वीकार से कठिनाइयां बढ़ती हैं। सापेक्षता से स्पर्धा, स्पर्धा से हिंसा और हिंसा से अशान्ति—यह क्रम चल रहा है। हिंसा को प्रयुज्य मानने वाले भी शान्ति में विश्वास रखते हैं, विसैन्यीकरण या सैन्य के अल्पीकरण और निरस्त्रीकरण की चर्चा करते हैं। तब लगता है—हिंसा में उनका विश्वास तो नहीं है। वे उसे अच्छी भी नहीं समझते। वे सिर्फ विवशता की स्थिति में उसके प्रयोग का समर्थन करते हैं। जैसे—कई धार्मिक सम्प्रदायों ने 'आपद्-धर्म' के रूप में हिंसा का समर्थन किया। रूप में थोड़ा अन्तर है; भावना में स्यात् नहीं। आपद्-धर्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए हिंसा का समर्थन करता है और आज का नयावाद जीवन की अव्यवस्था के प्रतिकार के लिए। आखिर हिंसा जो सबके लिए खतरा है; उसम

मर्या तो हो ही नहीं सकता। हिंसा करने वाले के विरुद्ध भी तो हिंसा बरती जा सकती है। हिंसा बुराई का प्रतिकार नहीं; बुरों का प्रतिकार है। बुरा कौन नहीं? न्यूनाधिक मात्रा में सब बुरे हैं। हृदय-परिवर्तन का मार्ग है—बुराई मिटे, बुरे-भले बन जाएं। व्यक्ति को मिटाने की परम्परा गलत है। मिटाने की जो प्रकृति बन जाती है, वह फिर बुरा-भला नहीं देखती। अपने को नहीं बचा; उसी को मिटाने की भावना उभर आती है।

विवशता व्यक्ति को क्रूर बनाती है। क्रूरता हिंसा बन फूट पड़ती है। ऐसी स्थितियाँ पहले भी हुई, अब भी होती हैं और अब कभी भी हो सकती हैं। कारण साफ है—हिंसा प्रतिशोध लाती है। हिंसा के प्रति हिंसा बनती है। शोषण, क्रूरता और दुर्व्यवस्था करने वालों के प्रति हिंसा बढ़ती जाती है, उसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु हिंसा के प्रयोग को दार्शनिक व सैद्धान्तिक रूप जो मिलता है, वह कुछ आश्चर्य जैसा है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि उसके विरुद्ध कोई हिंसा बरते। दल या राष्ट्र के लिए भी यही बात समझिए। यह भी लगभग सच है—सहजतया (स्थूल रूप में) कोई हिंसा करना भी नहीं चाहता। बड़ी हिंसा की प्रेरणा काल्पनिक स्वार्थों से मिलती है।

व्यक्ति समाज में बंधता जरूर है किन्तु मूल प्रकृतियों में परिवर्तन नहीं आता। वह राष्ट्रीय रूप में व्यापक बनता है किन्तु वह अपने राष्ट्र की परिधि में बंध कर अति-राष्ट्रीयतावादी बन जाता है। अपना प्रान्त, अपना गाँव, अपना घर, अपना परिवार, अपना शरीर—इस प्रकार की विभाजक मनोवृत्ति उसे सही माने में व्यक्ति ही बनाये रखती है। सामाजिकता सिर्फ काल्पनिक या कार्यवाहक जैसी होती है। अपने लिए समाज से कुछ मिलता है, तब तक वह सामाजिक बना रहता है। किन्तु जहाँ अपने स्वार्थ की क्षति मालूम होती है, वहाँ समाज उसके लिए कौड़ी के मूल्य का भी नहीं होता। इस अति-स्वार्थवाद से ही विषमताएं और शोषण आदि बुराइयाँ बढ़ती हैं। वैयक्तिक रूप संकुचितता उत्पन्न करता है किन्तु वह वस्तु-स्थिति है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। अपने शरीर, अपनी स्त्री और अपने पुत्र के प्रति या साधारणतया अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ के प्रति जो ममता हो सकती

है, वह दूसरों के प्रति नहीं हो सकती। वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रति जितना ध्यान दिया जाता है, उतना सामाजिक सम्पत्ति के प्रति नहीं। 'मेरी है', 'इसका लाभ मुझे मिलेगा'—इसमें कोई विकल्प नहीं होता। 'सबकी है', 'इसका लाभ सबको होगा'—यहाँ अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं। जैसे—फिर मैं अकेला इसकी चिन्ता क्यों करूं? मैं अधिक श्रम क्यों करूं? मैं स्पर्धा क्यों करूं? मैं लेखा-जोखा क्यों करूं, आदि-आदि?

वैयक्तिक सत्ता कोई बुरी वस्तु नहीं है, अगर वह हित-अहित के दायित्व के रूप में हो। व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्य का परिणाम आज या आगे उसी में होगा—यह धारण व्यक्ति को बुराई से बचाती है। कार्य के परिणाम का दायित्व व्यक्ति पर नहीं रहता है, तब अच्छाई में उसे रस नहीं आता और बुराई से वह सकुचाता नहीं। इन्द्रियां लोलुप होती हैं और मन चपल। उन्हें इच्छा-पूर्ति के सुन्दर से सुन्दर साधन चाहिए। कार्य का परिणाम भुगतने की चिन्ता नहीं होती, तब उनकी प्राप्ति की बात मुख्य होती है। वे कैसे मिलते हैं—यह मुख्य नहीं होती। इसी मनोवृत्ति ने मनुष्य को भोगी बना रखा है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—त्याग की ओर झुकाव। त्याग में व्यक्ति का अकेलापन निखरता है। वह हो नहीं रहा है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—"व्यक्ति समाजवाद के क्षेत्र में व्यक्तिवादी और व्यक्तिवाद के क्षेत्र में समाजवादी बन जाता है।"

धन का संग्रह करते समय वह नहीं सोचता—सबके पास इतना संग्रह नहीं है या सब इतना संग्रह नहीं करते, मैं अकेला यह क्यों करूं? यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति समाज की ओर नहीं झाँकती। भलाई के स्वीकार में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति होनी चाहिए, वहाँ सोचने का ढंग यह होता है कि दूसरे लोग अन्याय से पैसा कमा आनन्द लूटते हैं, तब मैं ही क्यों उससे बचने का प्रयत्न करूं? यहाँ हृदय-परिवर्तन की स्थिति स्पष्ट होती है। व्यक्ति आत्मानुशासन के द्वारा ही बुराई से बच सकता है। आत्मानुशासन के स्रोत दो हैं:—आत्म-समर्पण और आत्म-नियन्त्रण। आत्म-समर्पण से सहयोग और प्रेम बढ़ता है, आत्म-नियन्त्रण से विशुद्धि। आत्मानुशासन में कर्तव्य धर्म की निष्ठा होती है, इसलिए वह दूसरे की बुराई को अपनी बुराई के लिए प्रोत्सा-

हित नहीं बनने देता। व्यक्ति का यह रूप तब समझ में आता है, जब हम उसे परिस्थितियों से नियन्त्रण न मान उनसे स्वतन्त्र भी मानते हैं। इसके अनुसार निरपेक्षता व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य है, उपचरित मूल्य है सापेक्षता। नग्नता स्वाभाविक है और लज्जा उपचरित। नग्नता निरपेक्ष है और लज्जा सापेक्ष। लज्जा की मर्यादा के बारे में सब एकमत नहीं हो सकते किन्तु नग्नता सहज है—इसमें दो मत होने की बात नहीं। देश, काल और स्थिति के अनुसार मनुष्य—समाज के संस्कार बनते-बिगड़ते हैं। उनकी सचाई की कसौटी रुचि बन सकती है जो मान्यता का सत्य है। वस्तु-स्थिति का संस्कार से लगाव नहीं होता।

व्यक्ति को समाज व समाजजनित परिस्थितियों से बद्ध मानने वालों की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा सामूहिक ही हो सकती है, वैयक्तिक नहीं। स्थितियां बदलने पर व्यक्ति को स्वयं बदलना पड़ता है। व्यक्ति का हृदय बदलना ऐच्छिक है। समाज की मर्यादा बदलने पर व्यक्ति को बदलना अनिवार्य है। इतिहास के प्रोफेसर बताते हैं—जब कभी समाज में परिवर्तन आया, वह जनता की सामूहिक क्रान्ति से आया, व्यक्ति-व्यक्ति के परिवर्तन से नहीं। जन-क्रान्ति को ही दूसरे शब्दों में सत्ता की क्रान्ति समझिए। परिवर्तन की अनिवार्यता सत्ता में है। सत्ता ऊपर से नीचे की ओर नहीं सरकती, तब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आता। शोषक वर्ग का शासन शोषित वर्ग की कठिनाइयों को नहीं समझ सकता। शोषित और शोषक का वर्ग-भेद तभी मिट सकता है जब सत्ता शोषक के हाथ से छूटकर शोषित के हाथ में आ जाए।

यह भी परिवर्तन है। हृदय का नहीं किन्तु परिस्थिति का। हृदय का परिवर्तन व्यक्ति के अपने विवेक से होता है और स्थिति का परिवर्तन सत्ता से। सत्ता विवेक शून्य होती है, उसमें परिवर्तन की मौलिकता को देखने की दृष्टि नहीं होती, इसलिए उसमें चलते-चलते विकार आ जाता है। राजतंत्र का इतिहास देखिए। वह किस रूप में चला और उसकी अन्त्येष्टि किस रूप में हुई। हृदय-परिवर्तन में सामूहिक स्थिति के परिवर्तन की अनिवार्यता नहीं है। किन्तु यह एक दिशा है, जो सर्व व्यापी न होने पर

भी सबको सही मार्ग दिखा सकती है। संस्कार-परिवर्तन से विचार-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन, हृदय परिवर्तन से स्थिति का परिवर्तन होता है। यह क्रम अच्छाई और बुराई दोनों का है। शोषण के लिए हृदय में स्वार्थ चाहिए और उसे छोड़ने के लिए परमार्थ। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरों की सुख-सुविधाओं को न लूटने की वृत्ति जाग जाए, वैसा संस्कार बन जाए, यही हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह विवाद से परे का वाद है, इसलिए इसकी सबको अपेक्षा है।

परिशिष्ट

[पारिभाषिक शब्दकोश]

लेखक की अन्य कृतियाँ

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व,
(पहला भाग)
" " (दूसरा भाग)
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार मीमांसा
जैन धर्म और दर्शन
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन

आचार्य श्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृत भारतीय संस्कृतिश्च